व्रात्यसंस्कारमीमांसा

अनेकदुर्वादिमतनिरसनपुर...
त्रैवर्णिकसद्भावसंस्थाय...
भिनगाधिपतेः श्री १०८ मत...
प्रतापाद्यादत्तसिंहदेववर्म...
काशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभास...
पण्डितश्रीरामामिश्रशास्त्रिणा प्रण...

VRÁTYASANSKÁRA MÍMÁNSA

OR

THE EXISTENCE OF THE KSHATRIYAS AND VAIŚYAS IN ALL AGES PROVED:

COMPOSED AND PUBLISHED

BY ORDER OF H. H. THE RAJA OF BHINGA

BY

P. RÁM MIŚRA ŚÁSTRI,

PRESIDENT OF THE LITERARY

SOCIETY OF BENARES PANDITS.

काश्यां

चन्द्रप्रभायन्त्रे मेहतोपनाम्ना

श्रीजगन्नाथशर्मविदुषा प्रकाशिता च

संवत् १९४४

पहली बार
...० पुस्तक

मूल्य ।)

A SHORT PREFACE IN ENGLISH.

Many Pandits maliciously declare that there are no Kshatriyas and Vaiśyas in this Kaliy yuga; and that, even if they do exist, they should not be invested with the sacred thread.

Nágojíbhatta is the chief of these denouncers.

Out of malice which they inherit since the Peshwa's time, the Maharashtra Pandits and the like, holding Nágojíbhatta to be an authority, still often say so in their own houses, and also in public when they do not fear any pecuniary loss.

What a piece of falsehood and an instance of ignorance is such a statement! The wise are already aware of all this; however, I have taken the liberty to place before the public my Vrátya-Sanskara Mimánsa, designed to help them from being misguided by such wrong thoughts. But I think either this Nágojíbhatta cannot be identified with the famous grammarian, the author of Śekhar, who has noted down in his work on Práyaśchitta that there are Kshatryas and Vaiśyas in Kaliyuga, or, if he was the veritable author of Śekhar, he made this absurd statement at the instance of some ill-natured Rájá.

To prove myself useful in general, has long been my steady aim, especially in religious and philosophical matters connected with Bharata (India) where dissension prevails. It is a fact undeniable that if we Brahmans, Kshatriyas and Vaiśyas,

form a combination amongst ourselves, we can preserve the glory of our old Aryan race.

Under these circumstances, this small book tending to criticise the points declarative of the non-existence of the Kshatriyas and the Vaiśyas was brought out by me.

When the book passed into the hands of the patriotic and benevolent Raja of Bhinga, it attracted His Highness's notice. It was ordered to be printed and published both on account of its usefulness, and fitness to keep the Brahmans, the Kshatriyas, and the Vaiśyas in constant union.

His Highness also stated that proving the existence of the Kshatriyas and the Vaiśyas in Kaliyuga was like showing the sun or moon by means of a burning lamp, yet this treatise was sufficient to suppress the arrogance of the ignorant, who with the aid of the above mentioned Nágojíbhutta's work, kept safely in a corner of their houses, are desirous of excercising their jealous influence and sowing the seeds of disunion.

What return can I make for this pithy and patriotism-manifesting speech of the Raja? I can only express a wish that he may gain a name and fame by restoring the glory of his solar and lunar old, royal ancestors.

Elated with joy! I now entreat the Aryan descendants,* who yet hold an imperial sway over the whole world, to pay their undivided attention to the oldest and the best of our literary works, the Vedas, which have been neglected for

* Being scattered all over the civilised world.

hundreds and thousands of years, which being the words of God, the modern Pandits say, are unintelligible to man. The difficulty of the Veda-text has led me to write a book, called Sarvaveda Tatparyanirnaya, which will soon appear. Also Vedanta Shadvritti, to enable one easily to perform his ablutions in the ocean of Vadanta, will shortly follow.

P. S. RAM MISRA SASTRI,

WELL WISHER OF THE ARYANS AND PRESIDENT OF THE LITERARY SOCIETY, BENARES PANDITS.

॥ श्री रामोजयति ॥

स्वस्तिश्रीनिगमागमतत्त्वविवेचनशीलेषु, काशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेषु, वेदशास्त्रसंपन्नेषु, श्रीयुतपण्डितवररामभिश्रशास्त्रिषु, भिनगाराजधानीतः श्रीमन्महाराजाधिराजोदयप्रतापाद्यादत्तसिंहदेवबहादुरवर्मणोऽनेकप्रणामाः समुल्लसंतुतराम् – विज्ञापना यह है कि –

केचित् महाशय कहते हैं कि कलियुग में क्षत्रिय और वैश्य का अभाव है, और इसका दृढ़तर प्रमाण नागोजीभट्ट का ग्रंथ मानते हैं, परन्तु इसका विचार नहीं करते कि 'प्रायश्चित्तेन्दुशेखर' किसका विरचित है जिस में अनेक स्थल में क्षत्रिय वैश्य का विषय लिखा है उस में से किंचित् प्रकाश करते हैं, – "अथ स्त्रीशूद्रक्षत्रवधे प्रायश्चित्तानि – । ब्राह्मणीवधे विप्रस्य षाड्वार्षिकं ब्रह्महत्याव्रतं । क्षत्रियवैश्यशूद्रजातिस्त्रीवधे तदर्धतदर्धतदर्धानि" । तत्रैवाशुचिद्रव्यसृष्टाभक्ष्यभक्षणप्रकरणे – "अन्त्यखातितचाण्डालादिपरिगृहीततादृशकूपादिजलपाने विप्रस्य सान्तपनं । क्षत्रियादीनां कृच्छ्रकृच्छ्रार्द्धपादाः" । इत्यादि –

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि नागेश को क्षत्रिय और वैश्य से उद्देश नहीं था । "व्रात्यनिर्णय" किसी अशास्त्रज्ञ और आग्रही का बनाया है, कारण, कलि में क्षत्रिय वैश्य का अभाव होता तो

कलिकालोपयुक्तप्रायश्चित्तसंग्रहरूपस्वनिर्मित प्रायश्चित्तेन्दुशेखर में नागेश क्षत्रियवैश्यका विषय क्यों लिखते –

जब पेशवा का झंडा फहराया और पेशवा श्रीरामवंशज क्षत्रियकुलमुकुटालङ्कार महाराणा उदयपुर के राज्य में गये तब उनकी भेट की अभिलाषा की और भेट समय श्रीयुत महाराणा ने अपने समान आसन न दिया * उस काल से क्षत्रिय कुल से द्रोह उत्पन्न हुआ, और "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इत्यादि निर्मूल वचन बनने लगे –

क्षत्रिय गण की तो ऐसे निर्मूल दुर्वाक्यों से कोई हानि नहीं हुई, पर अकारण द्रोह करने वालों की जो गति हुई वह सब को विदित है "क्षत्रियं चैव सर्पंच ब्राह्मणं च बहुश्रुतं । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १ ॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितं । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान्" ॥ २ ॥ इति अध्याय ४ श्लोक । १३५ । १३६ । यह भगवान् मनु का वचन कदापि निष्फल नहीं हो सकता –

जिस कुल में साक्षात् परमेश्वर राम – कृष्ण और जनक – विश्वामित्रादि महापुरुषों ने जन्म लिया उसकी अप्रतिष्ठा धर्मज्ञ और विचारवान् लोग कदापि न करेंगें –

* पेशवा महाराज बन कर महा राणा की बराबरी चाहते थे न कि ब्राह्मण बन कर ! यदि ब्राह्मण बन के चाहते तो अवश्य महा राणा उनको सिर पर रखते ।

यह वही क्षत्रिय कुल है जिसके द्वारा महर्षि गौतमादि को ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई "स ह कृच्छ्री बभूव त७ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार त७ होवाच यथा मा त्वं गौतमाऽवदो यथेयं प्राक्त्वत्तः पुराविद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासन मभूदिति तस्मै ही वाच * ॥ ५ ॥ प्रपाठके ॥ ३ ॥ खंडे ॥ तत्रैवदशमखंडे – "यथेत माकाश माकाशाद्वायुं वायु र्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भूत्वा प्रवर्षति तइह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलामाषा इति जायंतेऽतोवै खलु दुर्निष्प्रापतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥ तद्य इह रमणीय चरणा अभ्योशोह रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिंवा क्षत्रिययोनिंवा वैश्ययोनिंवाथ इहकपूयचरण अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनि मापद्येरनश्वयोनिं शूकरयोनिं वा चांडालयोनिंवा" ॥ ७ ॥ इसमें विचारणीय यह है कि यदि कलि में क्षत्रिय वैश्य का अभाव माने तो मृत्युक्रसृष्टि क्रम की भी विलक्षण कल्पना करनी होगी, कारण, स्वस्वकर्मानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और श्वशूकर चांडाल योनि होती है, तो जिसका शुभ कर्म ब्राह्मण योनि प्रापक कर्म से किंचित् न्यून है उसको क्षत्रिय योनि को छोड़कर किस योनि में जन्म का संभव है, और जिसका कर्म क्षत्रिय योनि प्रापक कर्म से न्यून है उसको वैश्य योनि व्यतिरिक्त किस योनि में संभव है, यदि ऐसी कल्पना की जाय कि क्षत्रिय वैश्य योनि प्रापक कर्म का

* छान्दोग्योपनिषदि ।

भोग युगांतर में होगा तो यह कल्पना श्रुतितात्पर्य के प्रतिकूल है, क्योंकि कर्म भोगानंतर अव्यवहित काल में ही जन्म होता है युगांतर में होने का कोई प्रमाण नहीं, तथा एक दोष और भी आती है—जो ब्राह्मण सत्कर्म कर के तदनुसार आमुष्मिकफल को भोग के फिर कलियुग में ब्राह्मण जन्म को ही प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा किंचित् न्यून सत्कर्म कर्ता जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य जन्म का अधिकारी है उसको अधिक स्वर्ग फल प्राप्त होगा, कारण, उसको कलियुग के अनंतर क्षत्रिय वैश्य योनि में प्राप्त होना पड़ेगा॥

कलि धर्म व्यवस्था निरूपण करने वाले श्रीपाराशर महामुनि ने भी कहीं क्षत्रिय वैश्य का अभाव नहीं कहा, और आधुनिक निबंध ग्रन्थ 'निर्णयसिंधु' 'नारायण भट्ट रुद्रानुष्ठानपद्धति' इत्यादि में भी क्षत्रिय वैश्य सत्ता बोधक बचन दृष्टि गोचर होते हैं उन बचनों को नीचे किंचित् प्रकाश करते हैं जिस से ज्ञात होता है कि कलियुग में क्षत्रिय वैश्य का अभाव कहना केवल उद्देश्यमात्र है और यह उद्देश्य ऊपर कह आये हैं स्वल्पकाल से उत्पन्न हुआ,॥

"क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान्विप्रांश्च पूजयेत्।
वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात्कृषिवाणिज्यशिल्पकं॥ इति

पाराशरीये २ अध्याये आपद्वृत्तिप्रकरणे श्लोक ।१८।१९ निर्णयसिंधु में – "पितैवोपनयेत्पुत्रं तदभावे पितुः पिता। तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥ पितेति विप्रपरं न

क्षत्रियादेः । तेषां पुरोहित एव । उपनयनस्य दृष्टार्थत्वात् । तेषां चाध्यापने ऽनधिकारात् । यह उपनयन प्रकरण में लिखा है । रुद्रानुष्ठानपद्धति में – “ इह च रुद्रानुष्ठाने त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः । न स्त्रीशूद्रानुपनीतानां । तेषां वैदिकसंयुक्तकर्मण्यध्ययनाभावेन साक्षाद्वचनाभावेन नाधिकारादिति” । तत्रैव । आचार्यवरणे – अमुकशर्माहं आचार्यं त्वां वृण इति वृणुयात् । क्षत्रिये त्वमुक वर्मेति । वैश्ये त्वमुकगुप्त इति” । ऐसा लिखा है ।

चमत्कार यह है कि श्रुति स्मृति सकल शास्त्र और देशाचार व्यवस्था के विरुद्ध क्षत्रियवर्ण का तो कलि में अभाव माना जाता था पर कायस्थों के हेतु नवीनसृष्टि की कल्पना की गई और आश्चर्य नहीं कि यदि कायस्थों के अर्थ नवीन स्वर्ग लोक की भी अपेक्षा होती तो उसकी कल्पना में भी विलंब न लगता, कायस्थों का क्षत्रिय सदसद्भाव याज्ञवल्क्य और उशनास्मृती में स्पष्ट है – “चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः । पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ” ॥ याज्ञवल्क्ये आचाराध्याये श्लोकः । ३३६ । “ वैश्यायां विप्रतश्चौरात् कुंभकारः स उच्यते । कुलालवृत्त्या जीवेत नापिता वा भवंत्यतः । सूत के प्रेत के वापि दीक्षा काले थ वापनं । नाभेरूर्ध्वं तु वपनं तस्मान्नापित उच्यते । कायस्थ इति जीवेत्तु विचरेच्च इतस्ततः ॥ काकाल्लौल्यं यमात्क्रौर्यं स्थपतेरथ कृंतनं । आद्याक्षराणि संगृह्य कायस्थ इति कीर्तितः ॥ ” इत्युशनःस्मृतौ –

जब से कायस्थों को बिना राज्य के राज्याभिषेक की तयारी

हुई तब से कलि में क्षत्रियाभाव का शब्द प्रायः सुनने में नहीं आता परंतु उस समय से व्रात्यतादोष की संभावना की गई –

संप्रति जिनके कुल में परंपरागत वेदोक्त संस्कार चला आता है उनको व्रात्यदोष का असंभव है प्रायशः संस्कारच्युत क्षत्रिय कुल अत्यल्प है उन में भी पूर्ण संस्कार च्युत नहीं हैं किंतु शास्त्रोक्त विधि में न्यूनता करते हैं, यदि किसी कारण से क्षत्रिय वैश्य कुल में व्रात्यता प्राप्त हुई तो उसको वेद शास्त्र संपन्न ब्राह्मणों को शास्त्रानुसार शुद्ध करना उचित है, क्योंकि परोपकार ब्राह्मणों का परम धर्म है, ब्राह्मणों का महत्त्व केवल भारत वर्ष में ही है। और आर्य धर्माभिमानी द्विजों के परस्पर द्रोह होने से परस्पर की हानी है – संप्रति समयानुसार स्व स्वधर्मयुक्त चारो वर्ण हैं उन में से एक ही को अपराधी मानना अनुचित है –

यदि यह कहा जाय कि सब वैश्य नास्तिक हो कर नष्ट हो गये तो सब के नष्ट होने में क्या प्रमाण ? और उसी समय में इसका भी विचार अवश्य करना होगा कि कुछ ब्राह्मण भी नास्तिक के अनुयायी हुये थे वा नहीं, और जब मुसल्मानों का उत्कर्ष भारत वर्ष में हुआ तब कितने ब्राह्मण स्वधर्मच्युत नहीं हुये ? और कितने हुये ? –

क्वचित् देश में अद्यावधि यह व्यवहार चला आता है कि अतिधनाढ्य अन्य जाती को हिरण्यगोमुखप्रसव करा कर ब्राह्मण

बना लेते हैं, और क्वचित् देश में शूद्र की विवाहिता स्त्री को ब्राह्मणी बना लेते हैं और तब उसके पति को दूसरा विवाह करना पड़ता है इस विषय में अधिक लिखने का प्रयोजन नहीं –

यदि क्षत्रिय वैश्य मात्र का निरपराध जाल्पमान किया जाय गा तो वे कदापि मौन धारण न करेंगे उन्हीं ब्राह्मणों को पूज्य मानेंगे जो कि क्षत्रिय वैश्य के शुभ चिंतक हैं और जो पयोमुख विषकुंभवत् व्यवहार करते हैं उन से प्रयोजन रखना धर्मशास्त्र से प्रतिकूल मानें गे – क्योंकि भगवान् मनु जी ने चतुर्थ अध्याय में ऐसा कहा है—"न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैड़ालव्रतिके द्विजे। न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥ त्रिष्वप्येतुषुदत्तं हि विधिनाप्यर्जितंधनं। दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेवच ॥ १९३ ॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदकेतरन्। तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौदात्प्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥ धर्मध्वजी सदालुब्ध श्छाद्मिकोलोकदंभकः। वैडालव्रतिको ज्ञेयोहिंस्रःसर्वाभिसंधकः ॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठोमिथ्याविनीतश्चबकव्रतचरोद्विजः" ॥ १९६ ॥ इति ॥

आप की विद्या सत्यभाषिता और लोकहितैषिता देख कर यह पत्र निवेदन किया जाता है कि आप कृपा पूर्वक क्षत्रिय – वैश्य का सदसद्भाव तथा व्रात्य दोष व्यवस्था का सप्रमाण उत्तर दे कर कृतकृत्य करेंगे यह पत्र केवल आर्यधर्महितेच्छा से लिखा गया हम को खंडन मंडन वाद विवाद करने की शक्ति और

प्रयोजन नहीं है, करुणावरुणालय सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर सुजातीय कुजातीय सब का प्रभु है ॥

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

शुभमस्तु—मिती कार्तिक शुक्ल ८ इंदुवासर संवत्— ९४४ ॥

श्रीः

श्रीपतये नमः

श्रियै नमः

श्रीमते रामचन्द्राय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

व्रात्यसंस्कारमीमांसायाः

भूमिका ।

बुद्धिमान वही है जो परलोक की और लोकापवाद की भीति करता है, चतुर सज्जन उसे अनभिज्ञ जानते हैं जो अपने लोक द्वयको अपनेही हाथ से विगाड़ले । हमारे भारतवर्ष में ईश्वर के अनुग्रह से लोक द्वय साधन संसार के सर्व धर्मपुस्तकों से सर्व विषय में उत्तमोत्तम, जगत् के समस्त पुस्तकों से प्राचीनतम, (जिसे हमारे धर्म के पराङ्मुख इसाई, मुसाई, तुरानी, कुरानी, जैनी, बौद्ध, ब्रह्मसमाजी आर्यसमाजी पर्य्यन्त समस्तही प्रशस्त कहते हैं) वे धर्म शास्त्र वेद हैं, जो कि चातुर्वर्ण्य लेकर सर्व धर्म का शासन करते हैं. और वह चातुर्वर्ण्य संस्काराधीन है क्योंकि "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।" यह महर्षिलोग स्वयं कहते हैं। और कलि में संस्कार की तो यह दशा होगई कि ब्राह्मण भी (जिन पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का विश्वास किया जाता है) विन्ध्याचल में जाकर देवी के चरण में तागा स्पर्श कराके गले में पहन लेते हैं औ॰ उसे यज्ञोपवीत संस्कार मान लेते हैं जब ब्राह्मण का संस्कार ऐसा तब अपर वर्ण की कौन कथा है ? परन्तु अब ईश्वर की कृपा से मुद्रायंत्र द्वारा

पुस्तकादि प्रचार होने से सभी लोग अपने २ धर्म को देखना जानना चाहते हैं परन्तु शोक का स्थान है कि ब्राह्मण लोग शास्त्र और लोक की चिन्ता न करके केवल अज्ञानग्रथिल होकर अपने और अपने अनुचर अपर वर्णों के संस्कार व्यवहार के लोप में तत्पर हैं। बहुत से महात्मा ऐसे हैं कि वे गुप्तभाव से चार वेद और समस्त उपनिषद् की कथा एकान्त में व्रात्य वैश्यादिकों के घर पर कह आते हैं और जहां चार आदमी अपनी जाति के मिले वहां फिर वेद के मंत्र संस्कृत क्षत्रिय वैश्य के यहां भी नहीं पढ़ते।

कुछ दिन हुये कि मथुरा निवासी श्री गुरुसामलसेठ के पौत्र लक्ष्मीनारायण सेठ काशीजी में आये, और शिवरात्रि पर उन्हों ने मुझ से अभ्यर्थना करके वैदिक ब्राह्मण बुलवाये और मैं भी उस समय वहां उपस्थित था, ब्राह्मणों ने वहां जाकर "चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः" इत्यादि श्लोक वैदिकस्वरकी चाल पर कहना आरम्भ किया, सेठ जी ने मुझ से पूछा कि "शास्त्री जी महाराज! यह कौन वेद है?" मैंने अपने मुखसे इस जाल की बात का उत्तर देना अनुचित जान जिन ब्राह्मणों को मैं ले गया था उन्हीं से पूछा कि 'यह सर्व व्यवहार आप लोग क्या करते हैं? सेठ तो आप बहुज्ञ हैं सभी बात जानते हैं और वेद भी इनका कुछ पठित है' तब तो वे लोग आपुस में कुछ बातचीत करके बोले कि 'हम लोगों में वैश्य के यहां वैदिक मंत्र पढ़ने का सांप्रदाय नहीं है' तब तो सेठने कहा कि महाराज! कोई चिन्ता की बात नहीं है एक दिन के अर्थ आप अपने संप्रदाय को नष्ट मत कीजिये परन्तु चाहे जिस श्लोक को वेद मत बनाइये। और फिर सेठने प्रत्येक ब्राह्मण की ओर दृष्टिपात किया तो क्या देखते

हैं कि एक ब्राह्मण उसी मण्डली में बैठाथा कि जिस ने उसी वर्ष में उनकीयहांमथुराजी में श्रावण मास भर वेद का पारायण किया था तब वह उन वैदिक पंडित जी से प्रणाम करके बोले की आप अच्छे हैं ? बस इतना कहतेही वैदिक जी तो सुस्त हो गये। और सेठने पूछा कि आप अब काशी मे हमें अपने मुख कमल से वेद ध्वनि नहीं सुनावेंगे ? तब तो बोले कि सेठ जी ! क्या करें यह चार भाई के साथ की बात है यदि हम काशी में ऐसा वेदध्वनि करें तो हमें जाति बाहर होना पड़ेगा ! ! !

हमारे इस लेख का यहां प्रयोजन यह है कि "जो हम आगे व्यवस्था लिखने वाले हैं उसके अनुसार श्री० शिष्ट संप्रदायके अनुसार जो निश्चित क्षत्रिय वैश्य हैं उनका उपनयन यदि शास्त्रीय है तो उपनयन कराके उनको शास्त्र श्रवण कराना चाहिये न कि अनुपनीत असंस्कृत क्षत्रिय वैश्य को अर्थवश छिप कर उपदेश करना। इस अवसर पर कितने आन्तर दृष्टि हीन केवल स्वार्थ साधक यह हठात् बोल उठेंगे कि "साहब कलिमें तो म्लेच्छ लोगों को भी तो वेद पढ़ाते हैं नहीं तो देशान्तर में वेद का प्रचार कहां से हुआ ब्राह्मणों नेही तो किसी देशान्तरीय को प्रथम पढ़ाया होगा कुछ आप ही आप तो वेद भजकर नहीं चलागया ? " तो यह बात ठीक वैसीही है कि 'आप की गैय्या को वत्स होय तो हमारा बैल क्यों नही वत्स जन्मावे' भला हम सुनिर्णीत क्षत्रिय वैश्य को व्रात्यता से छुड़ाने चले तो आप अब मिथ्या धर्म की आड़ देकर हमारी प्रतिष्ठा और धन लाभ की आशङ्का करके धर्म की ध्वजा को हाथ में लेकर क्षत्रिय वैश्य के संस्कार को म्लेच्छ के वेदाध्ययन से तुलित करने चले ! डरो मत,

हमने एक पैसा नहीं खाया है तुम्हें चाहो तो कुछ दिला दें, जब आप के समान बुद्धि के सागर देश के स्तम्भ बैठे हैं तब हमें प्रतिष्ठा लाभ का तो उत्तम कर्म से संभवही कब है।

हां, निस्सन्देह यदि आप लोगों को घर बैठे पचीस २ रुपया दिलवावैं और मिथ्या व्यवस्था लिखी जाय तब कीर्त्ति की विशेष संभावना है, परन्तु परमेश्वर ऐसी कीर्ति और लाभ से दूर रक्खे, इसे हमारी वर्त्तमान कीर्त्ति और लाभही बहुत है॥

मैं जो कुछ व्यवस्था लिखने वाला हूं उस्के सूत्र पात करने की यहां कुछ प्राचीन शिष्ट संवादों को भी लोगों के संदेह निवारणार्थ लिखना आवश्यक समझता हूं॥ दक्षिण में जब प्रसिद्ध शूर बली सेवाजी साहब ने मुसलमान बादशाहों को शिकस्त देकर अपना राज्य जमाया तब अपने संस्कारादि और वैदिक मंत्र से राज्याभिषेक कराने को उस समय के सुप्रसिद्ध महान् अलुब्ध पण्डितचक्रवर्तिगागाभट्टजी * काशी से बुलाये गये थे और ये महाशय वहां जाकर उनका सर्वकार्य वैदिक मार्ग से निर्वाह करा आये थे और जब जयसिंह जी महाराज ने यज्ञ किया था तब उन्हों ने भी देश देशान्तर से (काञ्ची प्रभृति प्रधान द्रविड़ देश के नगरों से भी विद्वान् आये थे) ब्राह्मण बुलवाये थे और वेही सर्वकार्य निर्वाहक थे अधिक कौन बात कहैं थोड़े दिन की बात है कि अलवर के महाराज विनय सिंहजीने पर:सहस्र क्षत्रियों के संस्कार शास्त्रोक्त करवाये जिन के यहां संस्कार बहुत काल से च्युत हो गये थे।

* Author of the *Gogabhatta*, the best and simplest among the recent works on Jaimini surta.

अब जाति कौन वस्तु है और उस का संरक्षण कैसे होता है यह सर्व हम विशेष रूप से संस्कृत में लिख चुके हैं।

त्रिपुरुष (१) से अधिक संख्या के व्रात्य का संस्कार नहीं करना यह बात तो केवल पूना में पेशवा (२) घराने के राज्य प्रबन्ध के समय से चली है, इस का मूल इस प्रकार से हैं, कि दक्षिण देश में प्रायः क्षत्रिय वैश्य जाति हैंही नहीं जो कुछ थोड़े बहुत मुसलमानों के प्रथम उपद्रव के समय भारत के उत्तर पश्चिम दिग विभाग से भज कर वहां जा बसे, वे भी उस देश के निवासी कोल भिल्ल और महाशूद्रों में मिलकर उन से भी अधिक बिगड़ गये बस तो चलो यह बात सिद्ध होगई कि "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" अर्थात् कलियुग में केवल ब्राह्मण और शूद्र वर्ण है और क्षत्रिय, वैश्य का तो नामही है परन्तु सत्य क्षत्रिय वैश्य नहीं और महाराज मैसूर प्रभृति के दूर स्थिति और मध्य भारत और राजपूताने के राजा लोगों से संबन्ध न होने के कारण वहां के उत्तम क्षत्रिय घराने भी अप्रसिद्धि में आ गये। यह सर्व बुद्धिमान् एक मत होकर कहेंगे कि जाति वस्तु वह है कि जो सजातीय संबन्धी लोगों में रहने से ही प्रतिपन्न होसक्ती है तो दक्षिण में जहां कोलभिल्ल अद्यापि विराजमान हैं वहां एक दो क्षत्रिय वंश कैसे प्रसिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं और जब पूना में पेशवाओं की ध्वजा फ़हराई

(१) त्रिपुरुषपद से पिता, पितामह, और प्रपितामह, लिये जाते हैं।

(२) यद्यपि आप यवनी वेश्या रखते थे और उस के पैदा हुये लड़के को तमाम संसार के साम्हने गोद में खिला के बांदा वग़ैरह जगह की नवाबी देते थे। ! ! !

थी तब उन्हें उन के अतिरिक्त ब्राह्मणों पर भी घृणा और बदबू आतीथी (१) तो वैश्य क्षत्रिय, की कौन चलावे, वे तो धन के बल आर्यावर्त निवासी ब्राह्मणों को भी (रांगडा २) कहते थे बस हींग गई हींग की बदबू न गई, अब दरिद्र हुये तौ भी अपनी पुरानी बदचाल को नहीं छोड़ते, मोटे ताजे धनी बली (४) घमंडी के यहां तो चार वेद बिना पूछे पारायण करने को तयार; और कोई दूसरा यदि किसी संस्कृत निर्धन क्षत्रिय के घर एक मंत्र पढ़े तो फ़ौरन उसे जाति के बाहर करने का प्रबन्ध होय, आप भले रात्रि के समय कोठी में जाके औ॰ बिना पूछे जनक, याज्ञवल्क्य की कथा सुनावें औ॰ मन्त्र पर मन्त्र दें परन्तु दूसरे के माथे में मुसल का प्रहार करे !!!

हमें यहां सभ्यता के पर वश होकर एक बात और कहे बिना सुख लाभ नहीं होता है, थोड़े दिन की बात है कि कायस्थ लोगों को भी अपने धन, विद्या, गुण, गौरव, की तरह जाति के बढ़ाने का हौसिला हुआ बस ये फ़ौरन रुपया बांध बनारस को रवाने हुये इन्हों ने बड़े पण्डितजी से प्रश्न किया कि हमारे मूल पुरुष कौन थे? बस, कहीं पोथी पर का ख़याल रुपये के गांठ पर चला गया, और भावी को बिना विचार के कहागया कि आप के मूल पुरुष क्षत्रिय हैं पस डबल प्रमोशन पाकर लाला

(1) The Jealousy of the Peshva family is self evipent, in as much as the last of that line was the ring leader in the massacre of helpless infant during the mutiny of 1857 at Cawnpur. This sad event moves all true hearts to tears.

(2) A man of law birth.

(४) यद्यपि द्वेषसे क्षत्रिय मात्र को घर में बैठकर वेदानधिकारी कहते हैं।

साहब ने पायलागन किया भेंट दे कर घर गये, फिर कही याद आई कि भाई ! क्षत्रिय को तो यज्ञोपवीत होता है हमें तो नहीं, हमारा गला तो शून्यही है ? फिर लालासाहब बनारस चलगुजरे और शास्त्रीजी को फिर आय पायलागन किया, परन्तु अब की दफे शास्त्री जी ने पहलेही से सुन लिया था की लाला साहब अब यज्ञोपवीत लेने का आग्रह करेंगे सो इस हेतु लालासाहब को देखते ही मुंह फेर लिया तब तो लालासाहब बोले कि महाराज ! रसूम फ़िदवी की पहले ही जमा हो चुकी है और वही मुकदमा है एक मुकदमे में दो दफ़े रसूम तो सरकार के हाईकोर्ट में भी नहीं दी जाती है !!!

परन्तु इतने कहने पर भी जब पण्डितजी के दिल पर कुछ असर न देख पड़ा तो लालासाहब एक दम से बोल उठे कि ऐखुदा ! अजब और गज़ब बनारस का शहर है कि जहां बातों के वास्ते रसूम जमा किया जाता है ख़ैर "तीरथ गये मुड़ाये सिद्ध" यह विचार लालासाहब ने बहुत कुछ भेट पूजा देने चाहा परन्तु पण्डित जी ने साफ़ कह दिया कि भैय्या ! हमारा तो व्यवस्था देने का काम है और यज्ञोपवीत तुम्हें लेना होय तो तुम किसी गौड़ को कहो इतने पर तो लाला साहब बिलकुल ठंढे होगये और घर की राह धरी।

बस यही मामला इस समय इस अज्ञान का मूल हुआ कि तीन पुरुष के ऊपर जो व्रात्य हैं उन का संस्कार नहीं हो सकता, पण्डित जी ने रुपया भी मारा और आयन्दे को शास्त्रीय व्रात्य संस्कार के द्वार पर ऐसा लंघड़ डाला कि अनभिज्ञ लोग अभीतक कहते हैं कि तीन पुरुष के ऊपर संस्कार नहीं हो सकता है

क्या उन्हों ने शास्त्र पढ़ा नहीं तो सुना भी नहीं ?

महर्षि आपस्तम्ब (१) अपने सूत्र में ऐसा कहते हैं कि "यस्य पितृपितामहौ अनुपनीतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुतास्तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति वर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम्" जिन के पिता और पितामह ने यज्ञोपवीत नहीं लिया वे 'ब्रह्मह' कहलाते हैं याने उन्हों ने ब्रह्म जो वेद उसको मारा अर्थात् उसकी आज्ञा को उल्लङ्घन किया और उन के साथ संस्कृत लोगों को सहवास भोजन विवाह इत्यादि नहीं करना चाहिये और उन की संतति यदि यज्ञोपवीत लेना चाहे तो प्रायश्चित्त करै, और फिर लिखते हैं कि "यथा प्रथमे ऽतिक्रमे ऋतुमेवं संवत्सरमथोपनयनं तत उदकोपस्पर्शनं, प्रति पुरुषं संख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपनीताः स्युः सप्तभिः पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरक इत्येताभिर्यजुःपवित्रेण सामपवित्रेणाङ्गिरसेनेत्यपि वा व्याहृतिभिरेव वा सोऽध्याप्यः" इसका यह अर्थ है कि जैसे प्रथम मुख्य यज्ञोपवीत के कालोल्लंघन में ऋतुकाल (दो मास) ब्रह्मचर्य होता है तैसे अधिक काल विलंब होने से संवत्सर करना उचित है और उस के अनन्तर उपनयन लेना और फिर प्रति पुरुष संख्या से जितने पुरुष अनुपनीत होय उस संख्या के पावमानी नामक जो वैदिक मंत्र हैं उन से प्रायश्चित्त के अर्थ स्नान करना अथवा व्याहृति मंत्र से स्नान करना और उस के अनन्तर शुद्ध हुये पुरुष को वेदाध्यापन कराना ॥

(1) He dwells upon a very difficult subject concerning the Purva mimansa and it is equally difficult to explain his ideas in the Hindi language in so few words as at this place. It would be better for those to read my Sanscrit explanation who wish to master the subject thoroughly.

इस के अनन्तर महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं कि "यस्य प्रपितामहादीनां न स्मर्यत उपनयनं ते श्मशानसंस्तुतास्तेषां गमनादिकं वर्जयेत्प्रायश्चित्तमिच्छतां तेषां द्वादशवर्षाणि प्रायश्चित्तं तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिरथ गृहमेधोपदेशनं नाध्यापनं ततो योऽभिवर्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे, तत ऊर्द्ध्वं प्रकृतिवत्" जिस के प्रपितामहादिक का अर्थात् परदादा का और उस के बाप का और उस के बाप के भी बाप का इत्यादि क्रम से संस्कार का श्रवण भी न होता होय. याने ऐसे काल से छूटा हो कि कोई यह ठीक नहीं कह सकता है कि इतने वर्ष से हमारा संस्कार भ्रष्ट हुआ है तब ऐसे स्थान में द्वादशवर्षब्रह्मचर्य कराना औ॰ पावमानी मंत्र के द्वारा प्रायश्चित्तार्थ स्नान करना उस के अनन्तर विवाहादि संस्कार करना और ऐसे महाव्रात्यों को वेद नहीं पढ़ाना. परन्तु उनकी संतति के संस्कार के समय जैसे किसी के केवल पिताही का संस्कार न हुआ होय और पितामहादिक का तो संस्कार हुआ होय उस स्थान में जैसा प्रायश्चित्तादि किया जाता है उस चाल से करना और उस की जो संतति उत्पन्न होयगी उस का बराबर अपने निज ब्राह्मण. क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के अनुसार यथोचित काल पर निर्विवाद संस्कार होगा।

यहां हम अपने शिष्य श्रोता जिज्ञासु जन के भली भांत जानने के अर्थ दृष्टान्त लिखते हैं अपने चित्त में ठान ल्यो कि एक तेजसिंहजी ठाकुर अथवा वैश्य है और उन्हें अब इच्छा हुई कि हमारी व्रात्यता छुटे और हम अपने वर्णोचित कार्य करें और संतति हमारी पवित्र उत्पन्न होय लेकिन स्मरण करो कि तेज सिंहजी यह नहीं जानते हैं कि कब से हमारे पूर्व पुरुष लोगों

का संस्कार च्युत हुआ और कितने वर्ष से न हुआ तब उन्हें शास्त्रानुसार दीर्घ प्रायश्चित्त करना होगा और पावमानी ऋचा से प्रायश्चित्तार्थ स्नान करना होगा परन्तु उन्हें सर्व वेद नहीं पढ़ाया जायगा (१) परन्तु उन के पुत्र रघुनाथ सिंह जी अथवा रघुनाथ प्रसाद जी को अपने क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के अनुसार सर्व ही बात करनी होगी, बड़े आनन्द की बात है कि बाप के प्रायश्चित्त होने से यदि पुत्र का अधिकार वेद पर आ जाय तो तेजसिंह जी को प्रायश्चित्त करने की मुसीबत अवश्य उठानी चाहिये और आप नहीं तो पुत्र ही को वेद पढ़ाना चाहिये. गृहस्थ लोग संसार के सर्व सुख त्याग कर अपने संतति के सुख का उपाय करते हैं तो तेजसिंह जी को अवश्य अपने पुत्र की उत्तमता के अर्थ संस्कार करना चाहिये।

अब रही एक अनभिज्ञ लोगों की दंत कथा "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इसका यह हाल है कि बहुत से लोगों ने अनेक मनः कल्पित वचन बना लिये हैं जैसे कि गंगा जी की स्थिति के विषय में लोगों ने बना रक्खा है कि "तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्धं ग्रामदेवताः" इसका अर्थ यह है कि कलि में दशहज़ार वर्ष पर्यंत विष्णु पृथ्वी पर वास करेंगे और पांच हज़ार वर्ष पर्यंत गंगा जी, और अढ़ाई हज़ार वर्ष पर्यन्त ग्रामदेवता रहेंगे यानें गंगा जी का महात्म्य पांच हज़ार वर्ष के अनन्तर नहीं रहेगा इस वचन को अनभिज्ञ सर्वदा कहते हैं परन्तु यदि सच पूछना चाहो तो चार वेद चार उपवेद और अष्टादश पुराण में कहीं

(१) समस्त वेद नहीं पढ़ाया जायगा किन्तु केवल गृह कार्योपयुक्त मन्त्र पढ़ाये जायंगे।

भी इस्का मूल मात्र नहीं मिलता वचन की कौन कथा है और यही दशा "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इस्की भी है। यद्यपि कुछ इस चाल पर 'रघुनन्दन भट्टाचार्य, ने अपने निबन्ध में लिखा है कि जिस से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कलि में क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण नहीं हैं परन्तु समझने की बात है कि वे उस देश के रहने वाले हैं जहां कि आर्य वंश के लोग अद्यापि स्वल्प निवास करते हैं तो ऐसे देश के निबन्ध कर्ता ने यदि अपने देश के तात्पर्य से यह लिखा कि कलि में क्षत्रिय, वैश्य नहीं हैं तो कौन ताज्जुब है, हमारे ऋषि तो बिना यात्रा के उस देश में जाने से आर्य संतान को प्रायश्चित्त करने को कहते हैं "अङ्ग वङ्ग कलिङ्गेषु सौराष्ट्र मगधेषु च। तीर्थ यात्रां बिना गच्छन् पुनः संस्कार मर्हति ॥" तो विचारिये कि जहां जाने का प्रायश्चित्त वहां रहने की कौन बात, आर्य संतान उस देश में अत्यन्त अल्प रहती है और जो है वह भी आर्य देश के दूर परित्याग के निमित्त से मिश्रित हो गई तब जो रघुनन्दन भट्टाचार्य का यह कहना कि 'कलि में क्षत्रिय, वैश्य नहीं हैं. सो निज देश के तात्पर्य से ठीक ही है परन्तु यह कुरुक्षेत्र, (१) आर्यावर्त, (२) इन्द्रप्रस्थ (३) गुरुग्राम (४) कर्णालय (५) त्रिमर्त (६) गालवाश्रम (७) की निसर्ग पुण्य भूमि जहां आर्य संतान का आदि वास है. और जिसे द्विजसंप्रदाय की मातृभूमि बुद्धिमान् लोग कहते हैं, जिस

(1) The famous field of the Mahabharata.

(2) The great plain between the Himalaya and the Vindhya mountains where the Aryans first settled. 3) The modern Delhi (4) The modern Zila Gudagawan where Guru Dronacharya had pitched his tent during the famous war of the Mahabharata. (5) The modern Karnal where Raja Karna resided during the Mahabharata war

(6) The modern Tijara. (7) The modern Galta two miles from Jaipur.

भूमि में अद्यापि अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण बल, वीर्य, पराक्रम, साहस, चातुरी मूर्त्ति धारण करके विराजमान है वहां द्विजसंप्रदायका (१) विच्छेद कहना बुद्धिमान का कार्य नहीं है, वह अमिश्रित आर्यसंतान मुखही से मालूम होती है सिंहशावक मार्जार के संग रहने से कदापि मार्जार नहीं ज्ञात होता, हम कलि में क्षत्रिय, वैश्य के शुद्ध वंशप्रचार होने में महाभारत, श्रीरामायण, और मन्वादि अष्टादशस्मृति का प्रमाण दे सकते हैं परन्तु एक छोटी सी बात पर बड़ा तूल करना कुछ आवश्यक नहीं है इस हेतु इसे अधिक नहीं लिखते औ० जो कुछ लिखा भी है तो संस्कृत में देखो ॥

और आज कल के धर्मशास्त्री लोगों की तो यह दशा है कि जहां जैसा देखा वहां वैसाही कह दिया और लिख दिया, व्यवस्था पूछने वाले के मुख पर है, न की धर्म शास्त्र पर, जिन देशों में ग़रीब जमींदार त्रैवर्णिक होते हैं वहां उन्हे उनके सहवर्ती वेद क्या शास्त्र भी पढ़ाने में नफ़रत करते हैं और जहां वेही लोग धनी, दौलतमन्द, और जागीर वाले हैं वहां उन्हें क्षत्रिय के समान व्यवहार करते हैं और जहां कि बहुतही अधिक उन्हीं

(1) Those who have heard of His Highness Maharaja Jayasinha of Jaipur ar[e] have witnessed with their own eyes the customs and manners of the prese[nt] Maharajas of Bundi, Jambu &c. will never doubt the fact that true Kshtriy[as] still remain on the face of the Earth. A mere glance at his Highness the pre[sent] Maharajah of Bundi will show that in his veins run the very blood whi[ch] ran in those of Raja Ram Chandra &c. whose descendent His Highness is.

लोगों की रियासत हैं वहां उन्हें सर्व श्रेष्ट कहते हैं यह ठीकही है " माया तेरे तीन नाम परसू, परसो, परसराम " जब मनुष्य धन हीन होता है तो उसे लोग 'परसू' बोलते हैं, और जब वह कुछ खाने कमाने लगा तब उसे ' परसो ' बोलते हैं, जब वह पुरुष अदृष्ट के वैभव से महाधनी होता है तो उसे सर्व मिल कर एक स्वर से ' परसराम ' कहते हैं। मेरे इस सर्व वृत्तांत के यहां लिखने का केवल यही प्रयोजन है कि व्यवस्था वह कहलाती है जो शास्त्र से होती है न कि, छल रूप मुख देखी बात॥

अब इस अवसर पर कितने हमारे देश वासी गोबरपन्त शास्त्री यह कहते हैं कि "साहब वैश्य मात्र सर्वजैनी थे और इन्हें थोड़े दिन हुये कि वल्लभाचार्य ने गले में बद्धी (१) दे दी और हिन्दू बना दिया अब आप इन्हे द्विज बनाने चले, बड़े अंधेर की बात है मुसलमान और जैनी में कुछ भी फ़रक़ नहीं है, जैसे वे वेद पराङ् मुख हैं वैसेही ये भी हैं। तो भला इस बात पर तनिक शरीर के भीतर आकर हम से बात चीत करिये यदि आप जामा से बाहर हो जांय तब हमें ईश्वर ने इतनी शक्ति नहीं दी है कि आप से बात करें भला जैन बौद्ध मत का प्रचार केवल वैश्य वंश ही में हुआ था अन्य वंश में नहीं ? आप ने अभी पण्डितजी थोथी बात कहने को सीखी परन्तु हृदय के परिष्कार और मार्जन की बात अभी सुनी भी नहीं, बुद्ध जो बौद्ध संप्रदाय का प्रवर्तक था वह किस जाति का लड़का था और उसके प्रथम शिष्य कौन हुए थे? बस इसी बात पर तो हमें शोक होता है कि आपने केवल थोथी बात कहना सीखी है और हाथ देते हैं ऐसी बड़ी बातों में जहां

(1) The rosary worn round the neck by the followers of Vallabhacharya.

चार वेद और चार ज़बान जानना आवश्यक है, सुनिये, इस बात को इतिहासवेत्ता अवश्य मानेंगे कि "शुद्धोदन" क्षत्रिय का पुत्र बुद्ध था, और उस ने प्रथम अपने ही घर और वंश के लोगों को बौद्ध बनाया याने वे उसके अनुयायी हुए और यह मत उस समय से लेकर आठ सै वर्ष पर्यन्त भारत के अनेक राजा लोगों का मत था, पस यह बात सिद्ध है कि वैश्य विचारे ब्राह्मण क्षत्रियों के पाद रज हैं, इन्हों ने जब देखा कि ब्राह्मण तो निर्बल हुये और हमारे पालक रक्षक ठाकुर साहब बौद्ध तो हमै अब बिना बौद्ध हुये तिजारत और व्यापार का सुबीता नहीं, तो राजों के बौद्ध होने के अनन्तर हार कर वैश्य बिचारे जैनी हुये तो कहो कि अभी आप क्षत्रियों के यहां अन्य मंत्र की बात कौन चलावे महामंत्र गायत्री देने को लालायित हैं, और वैश्य विचारों से कुछ अधिक वसूल नहीं होता देख पड़ता तो उन्हें शूद्र बनाने चले ! सुनो मित्र ! औरङ्गजेबी राज्य नहीं है यह राजराजेश्वरी के प्रताप का मध्यन्दिन है सर्व पुस्तक मुद्रित होती चली जाती हैं मनुष्य मात्र को उच्च शिक्षा मिल रही है सर्व संसार चतुर हो गया है वलिक तुम्ह जी झूठा कंठ शोख करते हो और वह बात सीखते हो कि जिस का नतीजा न यहां न वहां उन्हें लोग अब पण्डित नहीं जानते इस अवसर पर ऐसी भूल की बात मत कहो कि वैश्य जैनी थे और वे मुसलमान के बराबर हैं क्या तो तुम हमै क्षत्रिय वंश अद्यापि दिखलावो कि यह वह वंश है कि जिस वंश के लोग बौद्ध और जैन हैं अथवा यह मानो कि काल के महात्म्य और ईश्वर की कृपा से हमारे पूर्वाचार्य शंकर, रामानुज, यादव, भास्कर वल्लभ, ने संसार पर वल्लभता दिखलाई और

बड़े बड़े त्रैवर्णिक जैन बौध लोगों को वैदिक बनाया और जो कुछ आर्य वंश की बुद्धि पर मालिन्य आया या उसे अपने युक्तियुक्त वेद शास्त्र से मार्जन किया और उस वंशका आदि शास्त्र वेद उन्हे पढ़ाया, भला भैय्या! बिचारो तो जैसा अब तुम क्रोधान्ध होकर स्वार्थ साधन को चलते हो स्वार्थ साधन क्या सच पूछो तो अपने सहवासी और समस्तही आर्य संतान पर (१) द्वेष करतेहो यदि ऐसेही हमारे पूर्वाचार्य द्वेष बांध घर बैठते तो हमे तुम्हें आज एक भी वैदिक नजर नहीं आता और हम तुम भी जैन के घर पर जन्म लेते और परम पवित्र वेद शास्त्र के अनुयायी न होते यह उन महात्माओं का परोपकारक लोगों का कार्य है कि आज

(१) कितने गोवरपन्त तो ऐसे भी हैं कि जब जैसा चाहते हैं तब तैसा ही कहते हैं, औ॰ गुप्तपुटरिया हाथ लगे तो पतित-सावित्रीक की कौन कथा यवन पर्यन्त का भी कर्णकुहर अमृतधारा प्रपूरित करते हैं औ॰ यदि कोई उन्हे लौकिक वैदिकमर्यादा की बात कहै तो "उलटा चोर कोतवाल को दण्डे" की मसल हो जाती है द्वादशाध्यायीका पागुर कर पिनिक में दांत दिखाय विभीषका दिखलाते हैं औ॰ द्वादशाध्यायी में तुरही बजाते हैं मानो जैमिनिइत्यादि महर्षिलोग ने मीमांसादिक तो अकाल में क्षुधापीड़ित होय कर ढ़ैन के यहां रिहन-मारदिये औ॰ कोई जानता ही नहीं। यह ठीक ही है शरीरात्माभिमान बड़ी वलाय है यह भया तब कौन बात अवशिष्ट है "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते"

हम तुम वैदिक बने भारत वर्ष में पुजा रहे हैं और वेद शास्त्राचार्य बने हैं और हम ब्राह्मण समस्त द्विज मंडली के मुख्य और ज्येष्ठ हैं और ज्येष्ठ का कार्य कनिष्ठ का उपकार है तो बस अब हमै हमारे कनिष्ठ क्षत्रिय वैश्य का शास्त्र सिद्ध संस्कार कराना उचित है हमारे पूर्वज भारद्वाज, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, अङ्गिरा अपनी द्विज संतान के अर्थ वेद रूपी खजाना रख गये हैं और इन्हे नाबालिक जान उस पर ज्येष्ठ भ्राता ब्राह्मण का ताला लगा गये हैं ताकि कोई उसे भूल भाल कर नष्ट भ्रष्ट न करदे उनका यह मतलब नही कि ज्येष्ट के ताला में यह वेद रूप संपति पड़ी हुई गल पच जाय परंतु तीनों भाई इसै "ज्येष्ठं श्रेष्ठेन भागिन" करके भोग करै अपने सह वर्ती अनार्य साधारण संतान पर्यन्त भी भारत रामायणादि रूप तदर्थोपदेश द्वारा कृतार्थ करै यह उनका इष्ट है बस यदि अब तुम अपने पूर्वजों की बात पर दृष्टि न देवोगे तो हम फ़ौरन नाबालकी की डिग्री करेंगे और (१) अदालत के ख़र्च समेत क्षत्रिय वैश्य को दिला मिलेगा और अदालत में यदि दरोग हल्फ़ी समझी जायगी तो (२) सजा भी होयगी ॥

और मेरे ज्येष्ठ बन्धु ! मैंने जो कुछ आप को कड़ा कहा है उसका कारण यह है की आप हम आर्य संतान बंधु हैं और बंधु-का कार्य यह है कि नीरन्ध्र होकर सदुपदेश करे भला विचार करो कि तुम स्वार्थान्ध होकर बकोगे और मैं चुपचाप सुनूंगा यह कैसे मुमकिन है मै भी आर्य संतान हूं मिथ्या बात सुनकर

(१) यहां ईश्वर की अदालत से मतलब है

(२) ईश्वर के घर में

दक्षिण नेत्र, औ॰ बाहु स्फुरण होने लगते हैं.येतो सर्व प्राण्यङ्ग हैं स्फुरण करै सो ठीक ही है मेरी तो अचेतना. लेखनी को भी रोमाञ्च होता है औ॰ अकाण्ड स्फुरण करने लगती है॥

शेष मे हमारी यही अन्तर्यामी जगदीश्वर से प्रार्थना है, कि आप को वह सत्य प्रियता शक्ति देवैं और उस बुद्धि को दे कि जिस से आप सत्य और असत्य का विचार कर सकैं औ॰ मिथ्या दम्भ, औ॰ विजय की पताका उडाने की इच्छा भी न करै॥

सुलभाः पुरुषा राजन्
सततं प्रियवादिनः॥
कटुकस्य च पथ्यस्य
श्रोता वक्ता सुदुर्लभः॥ १॥

आप त्रैवर्ण्य और चातुर्वर्ण्य का अकृत्रिम हितैषी काशीस्थ सुप्रसिद्धब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकपण्डितवररामसिश्रशास्त्री॥

ब्रह्मार्पणमस्तु॥

(श्रीः)

(श्रियै नमः)

(श्रीपतये नमः)

(श्रीमते रामानुजाय नमः)

वर्णाश्रमाऽऽचारविलोपिदृप्य—
द्दशाननप्रष्ठखलिष्ठवर्गाः।
आपुर्यदम्भोधरधीरगर्ज्ज—
च्चापीयरोपस्य शरव्यलीलाम् (१) ॥१॥

यस्यैव निश्वासगवीगणोऽयं
ब्रवीति वर्क्तुं भुजभूरुमङ्घ्रिम्।
विप्रांश्च राज्ञश्च विशश्च शूद्रां-
श्चेमा नसीम्नः परमस्य पुंसः (२) ॥२॥

नीलोत्पलच्छायसहायकाय—
श्रीके खलानां खलु लीलयैव।

(१) वर्णधर्माणामाश्रमधर्माणाञ्चोच्छेदनेषूद्यता अहङ्कारिणश्च ये रावणादयो ऽत्यन्तदुष्टास्ते सर्वे यस्य श्रीरामचन्द्रस्य विशालधनुर्मण्डलाद्विनिर्गतशराणां क्रीडालक्ष्या इवाभूवन् तम्।

(२) यस्यैव भगवतो निश्वासकल्पो ऽनायासोपदेशभूतो हिरण्यगर्भादीन्प्रति वाणसमुदायो वेदाख्यो ब्राह्मणादिवर्णान्यस्य मुखादिस्थानापन्नानाह, तम्।

सर्वङ्कषे यत्र बिभर्त्ति शोभां
वाल्मीकिविन्यस्तसुवर्णलेखा (३) ॥ ३ ॥
यश्च व्यवातिष्ठिपदत्र लोके (४)
वर्णान्यथावच्चतुरोऽपि पूर्णान् ।
प्रशास्ति च स्म प्रविभक्तवृत्तां-
स्तान्सुस्थितांश्च व्यदधाद्बुधाग्र्यः ॥४॥
तमेव रामं द्विषतां विरामं
सरामं (५) मेते प्रणमाम नाम ।
आसाम (६) चैतत्करुणार्णवस्याऽ
गुना कणेनाऽपि कृतार्थसार्थाः ॥ ५ ॥

(३) नीलकमलशोभायुक्ते पौलस्त्यप्रभृतिदुष्टानां चानायासेनैवोच्छेदके यस्मिन् श्रीरामचन्द्रे वाल्मीकिमुनिप्रवरनिर्मितशोभनाक्षरप्रबन्धः श्रीमद्रामायणकाव्यं शोभते, तम् । नीलवर्णे कषपाषाणे स्वर्णकारोल्लिखिता सुवर्णरेखा यथा सुवर्णसाधुत्वे शोभते तथा श्रीरामचन्द्रे वाल्मीकीयकाव्यमित्यादिर्दीर्घदीर्घो वैयञ्जनिकोऽर्थः ।

(४) चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्थापयिष्यति राघव इत्यादि वाल्मीकीयमत्रानुसन्धेयम् ।

(५) सरामं = सीतादेवीसहितम् ।

(६) अस्तेः प्रार्थनायां, लोटि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम् ।

॥ श्रीः ॥

प्रश्नाः अथ कलिकल्मषकालिमकलङ्किताः स्वकीयदुर्नीतिरीतिमहिममोहितस्वीयचेतनाशक्तयो विषमविषयविषभुजोऽस्थास्नुविषयवशंवदा विषयेष्वेव विषकीटा इव स्वीयसेव्यताबुध्यन्धधियः क्रियासमभिहारेण तेष्वेवानुरज्यमानाः। दिवाभीता इवान्धतमसप्रियाः। आम्नायतदीयाङ्गालोकपराङ्मुखनिजदृशः। सनातनवैदिकमहापथपथिककुलोद्भूताः अपि स्वयं महापथप्रच्युताः। आर्यपञ्चाननतनया अप्यज्ञानविजृम्भितावलम्बितशाश्वतिकनिजस्वभावाः (१)। अनार्यसङ्गमसुलभदुःस्वभावाः आरादेवोज्झितार्याचारास्तत्कुलं कलङ्कयन्तोपि सर्वथापि पैतृकमनुहरमाणा आर्यकुलैकसुलभसाहजिकसौशील्याकृत्रिमसुचेष्टितास्तिक्यमार्दवौदार्यगाम्भीर्याद्यनेकान्तरिकगुण-

(१) अज्ञानविजृम्भितेन अवलम्बितो निजः शाश्वतिकः—सार्वदिकः स्वभावः—शुभो धर्मो यैस्ते तादृशाः॥

गणगरिमप्रमाणीकृतनिजाभिजन्याः (१)। अनार्यकुलदुर्लभकेशचक्षुर्भूनासिकौष्ठसौष्ठवशालिनः। आर्यकुलैकलभ्यशारीरास्थिसंस्थानसंपत्संपन्नाः। निष्कम्पव्यवहारमूलभूतानादिसत्संप्रदायप्रसिद्धिशुद्धिसिद्धब्रह्मक्षत्रियवैश्यपदव्यपदेशभाजोऽमी कृपणाः। स्वप्रपितामहतत्प्रपितामहादितोऽपि च पूर्वं केचिद् याथातथ्येनासंपन्नस्वोपनयनसंस्काराः। वैदिकशैलीशालिभिरलुब्धैर्लौकिकद्वयभीरुभिरैहिकामुष्मिकार्थनिरीक्षणप्रविभक्तनिजक्षणैर्विचक्षणैः सर्वतोभयैरप्यकुतोभयैः- पुनः संस्कार्या ? न वेति कलौ क्षत्रियवैश्यवंशसद्भावो न वा ? वृद्धव्रात्याः संस्कार्या न वा ? इति च (२)। त्रैवर्णिकजिज्ञासायाम्॥

सिद्धा- संस्कारमर्हन्ति धर्मतइत्युत्तरम्॥

न्तोक्त- तथाचापस्तम्बधर्मसूत्रम्। * अतिक्रान्ते सावित्र्याः काले ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपन-

(१) आभिजन्यमुत्तमकुलोत्पन्नता॥

(२) एतत्प्रश्नचयार्थानुबन्धिनोऽन्येपि प्रश्नाः स्वयमूह्या उत्तरणीयाश्चेति प्रष्टृणामाशयः॥

* तत्र विषयविशुद्धये प्रथमत उपक्रमते

यनं ततः संवत्सरमुदकोपस्पर्शनमथाध्याप्यः" इति तदर्थस्तु ब्रह्मक्षत्रादेः स्वीयस्यावित्रीग्रहण-गौणकालोल्लङ्घने ऋतुमभिव्याप्य ब्रह्मचर्यमुपाश्रयीत ततश्च स व्रात्य उपनेयो भवति स चोपनीतः पूर्णं संवत्सरं यावदुदकोपस्पर्शनं कुर्यात् ततश्चायं माणवक एवमाचरितव्रतः पुनरध्याप्यो भवति अत्र प्रथमातिक्रमे उदकोपस्पर्शनं सामान्यस्नानमन्त्रैरेव न तु पावमान्यादिमन्त्रनियमो विशेषानभिधानादित्येतदग्रे व्यक्तीभविष्यति। त्रैविद्यकमिति त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तामधीयते इति त्रैविद्यास्तेषामिदं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं तच्च गुरुशुश्रूषाग्निपरिचर्याध्ययनान्यपहाय सर्वो ब्रह्मचारिधर्मः, ऋतुमिति त्वत्यन्तसंयोगार्थिका द्वितीया। सू०। "यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुताः"

यस्य–माणवकस्य पिता पितामहः 'इत्यनुपेतौ' इतिरच प्रकारार्थस्तेन माणवकस्य मातामहादेः सहाशिनः पितृभ्रात्रादेः पितामहभ्रात्रादेश्च परिग्रहस्तेन ते समाणवकाः ब्रह्महसंस्तुताः–

ब्रह्महणः" इत्येवं ब्रह्मवादिभिरभिहिता वेदाम्नोऽऽङ्खित्वात्तेनैतेषामुपपातकिनां समीपे नाध्येतव्यमित्येवमादि फलति। सू०। "तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्" अभ्यागमोऽत्र गतागतव्यवहारस्तमित्येवमादि व्याख्येयम्। इतिश्चापि प्रकारार्थस्तेनैतैर्व्रात्यैः सहापरोऽपि मैत्रीष्टालापादि व्यवहारो नाचरणीय इत्यर्थः। अत्र पितृपितामहाविति समासमुपेक्ष्य महर्षेर्व्याससमाश्रयणं 'ब्रह्मह' पदप्रवृत्तिनिमित्तकुक्षौ पितृपितामहयोरुभयोरिवैकैकस्यापि पतितसावित्रीकत्वं निमित्ततया प्रविष्टमिति दिद्योतिषया ब्रह्मह -- पदस्य प्रत्येकं तत्तद्धर्मावच्छिन्नबोधकतया पुष्पवन्तपदवन्नशक्तिरिति बुबोधयिषया च। सू०। "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम्"। इच्छतामित्युक्त्या बलात्कारेण, अश्रद्दधतां परोपदेशमात्रेणावज्ञापूर्वकं प्रायश्चित्तानुष्ठानं वा नैनसोऽपनुत्तये पर्याप्तमित्यसूसुचदृषिः (१)। सू०। "यथा प्र-

(१) सूचयामासेत्यर्थः॥

थमेऽतिक्रमे ऋतुरेवं संवत्सरः" प्रथमेऽतिक्रमे-माणवकस्य स्वीयगौणकालस्याप्युल्लङ्घने ऋतुप्रमितः कालः एवमस्मिन्नतिक्रमे संवत्सरः-- माणवकस्य पितामहमारभ्य स्वपर्यन्तं कालातिक्रमे पूर्णं संवत्सरं यावत्पूर्वोक्तरीत्या उपनयनस्वरूपयोग्यतौपयिकब्रह्मचर्यात्मकप्रायश्चित्तानुष्ठानमित्यर्थः । सू० । "अथोपनयनं ततउदकोपस्पर्शनम्" । ब्रह्मचर्यानुष्ठानानन्तरमुपनयनं ततो वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रत्यहं स्नायादित्यर्थः ॥

सू० । "प्रति पुरुषं सङ्ख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपेताः-- स्युः" । अयमर्थः-- यदि पितैव नोपनीतस्तर्हि संवत्सरमेकं पितृपितामहौ द्वावपि चेदनुपेतौ तदा द्वौ संवत्सरौ अथ माणवकोपि [१] यथाकालमनुपनीतो व्रात्यतामुपगतस्तदा त्रीन् संवत्सरान् यथाविधि उदकमुपस्पृशेत् । अथोदकस्नानमन्त्राः । सू० । "सप्तभिः-- पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरके इत्येताभिर्यजुःपवित्रेण

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्वस्वोपनयनमुख्यकालोल्लङ्घने इत्यर्थः ॥

सामपवित्रेणाङ्गिरसेनेति"। पवमानः सोमो देवता यासां ताः पावमान्यः (१)। "यदन्ति यच्च दूरके" इत्येताभिरेताभिरित्यर्थः। (२) "यजुः पवित्रेण--आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्त्वित्यनेन। (३) सामपवित्रेण--"कया नश्चित्र आभुवत्" इति ऋचा गीतेन वामदेव्येन साम्ना, (४) आङ्गिरसेन हंसः शुचिषदित्यनेन एवमादिनाऽपः शिरस्यभ्युक्षेत्। सू० "अपि वा व्याहृतिभिः"। अयमर्थः--शिरोमार्जनं पूर्वोक्तैर्मन्त्रैर्व्याहृतिभिर्वा। सू०। "अथाध्याप्यः"। एवं कृतपापप्रमार्जनोऽसावध्याप्यः, अथकारोऽत्र मार्जनानन्तर्यं बोधयन्नध्ययनमार्जनयोः पौर्वापर्यनिबन्धनप्रयोज्यप्रयोजकभावमवगमयतीत्यध्ययनाङ्गं मार्जनं नतूपनयनाङ्गमिति पर्यवस्यति॥

सच्छिष्यास्तु पुनरिह "यस्य पिता पितामह-

(१) ऋग्वेदे ७ अष्टके २ अ० १७ वर्गे ९ मण्डले॥
(२) कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयब्राह्मणे १ अष्टके। ७ अनुवाके॥
(३) सामवेदसंहितायाम्। १ प्रपाठके १ अध्याये १२ सूक्ते॥
(४) अथर्ववेदे॥ ६ अनुवाके। ४ प्रपाठके। २ काण्डे॥

इत्यनुपेतौ" इति सूत्रे इति पदं प्रपितामहाद्युपलक्षकं ततश्चात्र सूत्रे एकादश पुरुषा माणवकमारभ्योपस्थाप्यन्ते । यस्य तु प्रपितामहादिनाऽनुस्मर्यत उपनयनमित्युत्तरसूत्रे च प्रपितामहादिपदेन द्वादशतमं पुरुषमारभ्याग्रेतनाः परिगृह्यन्ते । एवं च येषामख्यातयशसां (१) पञ्चषपुरुषाभ्यन्तर एव संस्कारविलुप्तेर्नावधारणं कति पुरुषानारभ्य संस्कारो याथातथ्येन च्युतइति तेऽनवधारितेयत्ताकसंस्कारच्युतिकस्वपूर्वपुरुषकाः एकादशपुरुषाभ्यन्तर एव वक्ष्यमाणं द्वादशवर्षात्मकब्रह्मचर्यानुष्ठानलक्षणप्रायश्चित्तमधिकुर्वन्ति ये च स्वपूर्वपुरुषीयसंस्कारच्युतिं याथातथ्येनावधारयितुं पारयन्ति तेऽमी च्युतसंस्कृतिक--स्वपूर्वपुषीयसंख्यासमसंख्याकाब्दान् यावदनुतिष्ठेयुर्ब्रह्मचर्यलक्षणं प्रायश्चित्तं, यथा कस्य चित् चत्वारः स्वपूर्वपुरुषा असंस्कृतास्तर्हि चतुरब्दप्रायश्चित्तं, पञ्च चेत् पञ्चाब्दप्रायश्चित्तं, षट् चेत् षडब्दप्रायश्चित्तमित्येकैकपुरुषाभिवृद्ध्या प्रायश्चित्ताब्दा-

(१) पञ्चानां षण्णां च पुंसामित्यर्थः ॥

भिवृद्धिरेकादशपुरुषपर्यन्तं तदनु पुरुषसंख्याभिवृद्धावपि द्वादशाब्दं वाचनिकप्रायश्चित्तं, युक्तश्चायमर्थोऽन्यथा कथमिवर्षिर्माणवकस्य स्वीयगौणकालोल्लङ्घने एकर्त्तुप्रायश्चित्तमभिधाय माणवकस्य पितुरनुपनयने तत्पितामहस्याप्यनुपनयने च "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुरेवं संवत्सरम्" इत्यनुचितक्रमकं प्रायश्चित्तं विदध्यात्, अत्र हि माणवकस्य गौणकालोल्लङ्घने ऋतुमात्रं पितुरनुपनयने वर्षप्रायश्चित्तं तदेव च पितामहस्याप्यनुपनयने इत्यत्यन्तमयुक्तिः प्रसज्येत, सम्भवन्त्यां लौकिकार्थरीत्या व्यवस्थायां शास्त्रेषु लोकानादरो न युक्तः, यथा "व्रीहीनवहन्यादित्यत्रावघातमात्रस्य शास्त्रपरिचोदितत्वेऽपि नावघातस्तत्र सांस्कारिक एवाद्रियते परंतु लोकसिद्धवैतुष्यात्मकफलपरिपाकदशापर्यन्त एवेत्यनभिहितावृत्तिकोऽप्यवघात आवर्त्यते, एवमत्रापि धर्मशास्त्रीयार्थनिरूपणे तदविरुद्धयुक्त्युपष्टम्भदानस्यावश्यकतेति न सोपेक्षणीया। संस्कृतमातापितृकस्य माणवकस्य गौणकालोल्लङ्घने ऋतुमात्रं चेदवश्यमसंस्कृतमातापि-

त्रकस्य माणवकस्य वर्षप्रायश्चित्ताचरणं शरीरस्य-षाट्कौशिकत्वेन स्वशरीरारम्भकावयवानां च मातापित्रवयवप्रसादासादितोपचयानामेवाग्रेव-र्द्धमानतया असंस्कृतमातापितृकेण स्वशरीरार-म्भकावयवशोधनाय वर्षं यावद्ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं, पितादस्यानुपनीतत्वे च निरुक्तरीत्या वर्षद्वयं त-तस्त्रयं ततश्चतुष्टयमिति युक्त्या लब्धपदेयं काल-वृद्धिव्यवस्था। नचायमर्थोऽप्रतिकूलोपि सूत्राक्ष-रैरसम्पृक्तइति शङ्कनीयम्, माणवकस्य ऋतु-प्रायश्चित्तमभिधाय "यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुरेवं संवत्सरइति साजात्यघटनया वत्सरप्रायश्चित्ता-भिधानद्वयेव निरुक्तयुक्तिमूलतया सूत्राक्षरैरेवो-क्तार्थस्य लभ्यमानत्वात्। अन्यथा तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं वत्सरमितम्। इत्येवालं कस्य हेतोः साजात्यघटनाऽ, यत्र हि शास्त्रं प्रभुसंमानेन किञ्चिद्विदधाति न तत्र सादृश्यमपेक्षते यथा-ऽनैवाग्रे (१) अज्ञातपुरुषवर्षं यत्ताकसाविच्यति-

(१) यत्र धाविच्यतिपाते पुरुषाणां वर्षाणां च इयत्ता नावधारयितुं शक्येति तु निर्गलितम्।

पातवतां पुंसां द्वादशाब्दप्रायश्चित्तानुष्ठानविधानसमये "तेषां द्वादशाब्दं प्रायश्चित्तम्" (२) इति व्यधादृषिः, नह्यत्र न्यायानुनयनीतनित्यनिजाने हसोपि आस्तिकास्तर्कलवमप्यवलम्बन्ते, एतेन पितुरनुपनयने यदेकाब्दप्रायश्चित्तं तदेव चेत्पितामहस्याप्यनुपनयने "तर्हि लघुनि, लघु, गुरुणि, गुरु, इति धर्मशास्त्रीयसामान्यनियमावमाननाप्रसङ्ग इत्यप्यपास्तम्। एकैकपुरुषाभिवृध्या वत्सराभिवृद्धेरप्युक्तत्वात्, न चाग्रे पुरुषाभिवृद्धावुदकोपस्पर्शनवर्षाभिवृद्धेः "प्रतिपुरुषं संख्याय यावन्तो ऽनुपनीतास्युः" इत्यादिना महर्षिणाऽभिहितत्वात्कथं पितृमात्रस्यानुपनीतत्वापेक्षया पितृपितामहयोरुभयोरनुपनीतत्वे माणवकस्य प्रायश्चित्तसाम्यमितिवाच्यम्, नह्येकं वैषम्यमस्तीत्यपरमपि सूत्राक्षरस्वरसलभ्यं वैषम्यमतिशायकं त्याज्यमितिदुराग्रहो युक्तः, नहि शाकमस्तीति सूपे कश्चिदनादरो रसिकानाम्। किंच एकस्य पितुर्व्रात्यत्वापेक्षयाऽपरस्य पिताम-

(२) प्रकथयदित्यर्थः।

हस्यापि व्रात्यत्वे व्रात्यपुरुषाभिवृध्योदकोपस्पर्श-नवर्षाभिवृद्धिरुपनयनोत्तरकालीनाध्यापनेऽतिशयमादधानापि अध्यापनात्पुरतोऽनुष्ठिते उपनयने न कञ्चिदप्यतिशयमादध्यादिति पितृमात्रस्यानुपनीतत्वे यथा वत्सरप्रायश्चित्तमुपनयनौपयिकमेवं पितृपितामहयोरुभयोरनुपनीतत्वेऽपि माणवकोपनयने एकवत्सरप्रायश्चित्तमनुष्ठेयं चेत् "गुरुणि गुरु, लघुनि लघु, इति सामान्यनियमावधीरणा स्यान्नचासतिविशेषे सामान्यनियमानादरो युक्तः । नचापि पुरुषाभिवृद्ध्योदकस्पर्शनवर्षाभिवृद्ध्यतिशयोऽध्ययनौपयिको जनिष्यमाणोऽपि ततः प्राक्तन्यामुपनीताबुपयोक्तुमलमित्याशापिशाचीपैशुन्यपारायणप्रावण्यं युक्तम् इत्याचक्षते ॥

साधु तत् "यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ" इति सूत्रे इतिपदं सम्यगवगतसंस्कारविलुप्तिकावगतेयत्ताकस्वपूर्वपुरुषपरम्परावतां पुंसामेकादशावधिपुरुषपर्यन्तं संस्कारसङ्ग्राहकमिति । अस्ति चायमर्थः पुनरुत्तरसूत्राक्षरप्रसादलभ्यः

कथमन्यथा "प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपेताः स्युः" इत्याचार्यउदीरयेत् "यस्य पिता पितामह" इति सूत्रे माणवकान्तानां त्रयाणामेव परिजिघृक्षितत्वे हि 'प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान् येऽनुपेताः स्युरिति सूत्रघटना स्यात् अधिकानां सङ्ग्राह्यत्वे तु पुरुषसङ्ख्याव्यापकसङ्ख्याकाब्दपर्यन्तं ज्ञानबोधनाय युक्तं यावत्पदपरिग्रहणमित्यस्थूलधिषणा एवावधारयन्तु स्वकीयां सः। वस्तुतस्तु प्रतिपुरुषं संवत्सरं येऽनुपेताः स्युरित्येव तथासति सूत्रघटना युक्ता नतु प्रतिपुरुषं संख्यायेत्यपि नहि लोके चीनामन्त्र्य विप्रान् दक्षिणादानसमये प्रतिपुरुषं संख्याय दक्षिणा देयेत्यवधापयति कश्चिदपि समयाभिज्ञः कमपि पुरुषमिति अधिकपुरुष संजिघृक्षयैवेह प्रतिपुरुषं संख्यायेत्याद्यभिहितम्। ततश्च संख्याबुद्धेः प्रामाण्यपरिचायाय चतुष्टपञ्चत्वाद्यात्मकसंख्याजनकापेक्षाबुद्धेरपेक्षानात्मकत्वाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्त्वयोः संबलनाय प्रतिपुरुषं संख्यायेत्युक्तं युक्तमेव एवमेव च 'येऽनुपेता' इत्य-

पहाय यावन्तोऽनुपेताः स्युरित्यपि भवत्यनुप्राणितं लोके त्रिषु यावन्तस्तावन्तइत्यादिर्व्यवहारस्तु दुर्मेधसां स्मरणशक्तिहीनानां संभवेऽपि सुमेधसामसंभवादिति पदवाक्यप्रमाणज्ञाः कृतधियो विदाङ्कुर्वन्तु । सू० । "अथ यस्य पिता पितामहादि ना (१) ऽनुस्मर्यत उपनयनं ते श्मशानसंस्तुताः" ।

प्रथमतः स्वस्य गौणकालोल्लङ्घने प्रायश्चितं तदनु पितुरथ पितामहस्यानुपनयने प्रायश्चित्तमुक्तमिदानीं क्रमिकं माणवकप्रपितामहस्य आदिपदसंजिघृक्षितस्य, तत्पितृपितामहादेश्चानुपनयने प्रायश्चित्ताननुष्ठाने तेषामतिगर्हणीयताप्रदर्शनपुरःसरं महाप्रायश्चित्तमाह ? पूर्वं 'यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ' इति सूत्रेऽङ्गुलीकृत्यावगतसंख्याकसंस्कारविच्छेदवत्पुरुषपरिग्रहोऽत्रसूत्रे च 'नानुस्मर्यते' इत्यनूपसृष्टेन नञ्समभिव्याहृतेन स्मरतिना पितृपितामहप्रपिताम-

(१) अत्रानेकेषु धर्मशास्त्रप्राचीननिबन्धेषु यस्य प्रपितामहादीनां नानुस्मर्यत उपनयनमिति पाठः ॥

हतत्प्रपितामहादिकालक्रमभूम्नसंबन्धनिवन्धन-स्मरणविषयत्वाभावो बोध्यते। एवं च समाणव-का एते सर्वे श्मशानसंस्तुताः श्मशानवच्छुभे कर्म-ण्यध्ययनादौ परिहरणीयाः। यथा श्मशाने "श-म्याप्रासा" दित्यध्ययननिषेधएवमेषां संनिधौ नाध्येतव्यमिति तु फलितम्।

ननु पूर्वसूत्रे 'यस्य पिता पितामहइत्युपक्रमे एकवचनं मध्ये च 'ते ब्रह्महसंस्तुताः' तेषां गमनं भोजनमिति 'तेषामिच्छतामिति च बहुवचन-मन्ते पुनरध्याप्य इत्येकवचनम्। एवमच सूत्रेऽ पि प्रथमतो 'यस्य प्रपितामहादि इत्येकवचनं 'ते स्मशानसंस्तुताः' 'तेषां गमनमिति 'तेषा-मिच्छतामिति च बहुवचनं कथं संगच्छतामि-ति चेत्? जीवतां माणवकतत्पितृपितामहादीनां स्वव्रात्यतानिवृत्तिं चेच्छतां न संभूयै-वाधिकारित्वं किंतु प्रत्येकमिति बोधनाय, अत-एवान्ते 'अध्याप्य' इत्येकवचनम्। युक्तश्चायमर्थः ऋषिणैव तेषामिच्छतामित्यनेन त्रैवर्णिकतन-यत्वसमानाधिकरणेच्छामात्रस्यैव निरुक्ताधिका-

रितामयोजकत्वस्य स्फुटमभिधानात् "तस्मात्त-द्वप्यर्थपि बादरायणः संभवा" दिति सूत्रोदितरीत्या अर्थित्वसामर्थ्ययोरारादधिकारित्वप्रयोजकयोर्माणवकतत्पितृपितामहादिसाधारण्यात्प्रत्येकमधिकारित्वमिति सुसूचयिषया 'यस्य, अध्याप्य, इति चोपक्रमोपसंहारयोरेकवचनम्। न चोपक्रमोपसंहारानुरोधेनैकस्य माणवकस्यैवाधिकारित्वं माध्यमिकं बहुवचनं तु माणवकबहुत्वाभिप्रायमेवेति कुतो न कल्प्यतामिति वाच्यम् 'तेषामिच्छतामिति' सूत्रकृदभिमतेच्छाप्रयोजकत्वोपबृंहितस्य ते 'ब्रह्महसंस्तुताः' 'तेषामिच्छताम्' इति चतुः कृत्वोऽभ्यासस्य चान्यथयितुमशक्यतया बहुवचनस्य माणवकबहुत्वाभिप्रायकत्वकल्पनाया अयुक्तत्वात्। नचोपक्रमोपसंहारयोर्द्वयोरर्थनिर्णायकयोः सतोरेकोऽभ्यासः कथमर्थनिर्णयप्रभविष्णुरित्यतिफल्गु शङ्कनीयम् उपक्रमोपसंहारयोर्द्वयोः संभूय तात्पर्यनिर्णायकैकलिङ्गतायाः शास्त्रसंमततया अभ्यासस्य तदपेक्षया दौर्बल्यविरहेण उपपत्त्याद्युप-

वृंहितस्य बलवतस्तस्यैवार्थनिर्णायकताया युक्तत्वात् अनुमोदितश्चायमर्थस्ताण्ड्यब्राह्मणे सप्तदशाध्याये चतुर्थखण्डे प्रथमब्राह्मणे तद्यथा "(१) अथैष शमनीचामेढ्राणां॰ स्तोमो ये ज्येष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुस्तएतेन यजेरन्नि" ति एतेन तत्रोपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमध्यापनंच बहुवचनं माणवकबहुत्वाभिप्रायमित्यवोचाम" इति प्रलपन् हरदत्तोपि निरस्तस्तथासति 'ते ब्रह्महसंस्तुता' इत्यादौ समाणवकानांपितृपितामहादीनां स्वयं ब्रह्महपदार्थतामाख्याय तेषामिच्छतामित्यत्र पुनर्माणवकमात्रस्य परामर्शोक्तिरयुक्तः, अतएव(२)

१ शमेन मनोनिग्रहेण (मनोनिग्रहस्य चतुर्थे वयसि प्रायः संभवात् यौवनोपरमेणेति तु तदर्थः) ततश्च यौवनावसानेन नीचं अनुद्धतं पुंव्यापारासमर्थं आसमन्तात् मेढ्रमुपस्थेन्द्रियं येषां तेऽनेन व्रात्यस्तोमेन यजेरन्नित्युक्त्या वृद्धानामपि संस्कार्यत्वं सुव्यक्तम् । विशेषतश्चाग्रे निरूपयिष्यतेऽयमर्थः ॥

(२) कात्यायनशिष्यतया प्रसिद्धेन भवान्तरे पारस्कराचार्यपदभाजा तत्र भगवता कात्यायनेनैव प्रणीते काण्डत्रयात्मके ग्रन्थे द्वितीयकाण्डीयषष्ठखण्डे ॥

कातीये "त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्त्ये संस्कारो नाध्यापनं च" त्युपक्रम्य 'तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीतिवचनादिति" सूत्रे उपक्रमे 'तेषामिति' उपसंहारे च "अधीयीरन्" व्यवहार्याभवन्तीति च बहुवचनं मध्येतु 'संस्कारेप्सु' रित्येकवचनमेव ततश्चासति बाधके विधेये उद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यताया उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यतायाश्च बोधस्य व्युत्पत्तिबललभ्यतया प्रकृतविधेयव्रात्यस्तोमयागे संस्कारेप्साप्रयोज्यताया व्याप्यतायाश्च बोधस्यानुभविकतया संस्कारस्य माणवकनैयत्यनिराचिकीर्षया, प्रपितामहादिसमुदायपर्याप्ताधिकारितानिराचिकीर्षया च, औत्सर्गिकमेकवचनं "संस्कारेप्सु" रिति, ततश्च संस्कारकामनामात्रस्य प्रयोजकतालाभेन पितृपितामहयोर्जीवतोः स्वसंस्कारमनिच्छतोर्माणवकस्य स्वात्मानं संश्चिकीर्षोरधिकारिता स्वातन्त्र्येण सिध्यति, माणवके चानिच्छति इच्छतोश्च पितृ पितामहयोः स्वातन्त्र्येणाधिकारितासिद्धिस्त-

योरिति लभ्यते । ततश्चापस्तम्बीये उपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमध्यापनंचेति हरदत्ताभिधानं न केवलं शिष्टिश्लं परमुपहसनीयमपि अन्यथा कातीये उपक्रमोपसंहारयोर्बहुवचनानुरोधेन त्वदुदितार्थविपरीतार्थसिद्धिरित्यगत्या त्वयाप्यङ्गीकरणीयमित्यापस्तम्बीये आद्यन्तयोरेकवचनश्रवणं तवाकिञ्चित्साधकं परंतु दर्शितरीत्या मदुक्तार्थसाधकमेवेति सूक्ष्मदृशावधातव्यं। विशेषस्तु नागेशकुकल्पनाकवलनस्थलेऽग्रे द्रष्टव्यः ।

नचारो पेसति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोपइति न्यायेन प्रकृते यच्च बहुवचनसमर्थनमर्थनीयं तच्च तथा कल्प्यते यच्च त्वेकवचनमेव तत्र तत्तदेकमाणवकव्यक्तिपरतैवति न किञ्चित् क्षतं न इति वाच्यम् । तथासति प्रकृतसूत्रेषु बहुवचनसमर्थनाया माणकबहुत्वाभिप्रायकत्वेन वक्तुमशक्यतया मदुक्तराजपथावलम्बने तवापि स्वस्तिसंततिसातत्यसौहित्यसंपत्तेस्त्वदु-

त्प्रेक्षितस्य (१) विसंष्ठुलस्य, कथ्यतात्पर्यविषयस्य पंथस्त्वयापि त्याज्यत्वादित्यलमुपयुक्तेषु वैशद्यवतां परनिग्रहणसंनाहेन। सू०। "नैषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेत्। अथोपनयनं ततउदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः" प्रथमतो द्वादशवर्षब्रह्मचर्यं ततउपनयनं ततः पावमान्यादिभिरुदकोपस्पर्शनम्"। अत्रोदकस्पर्शनकालनियमस्यानुक्तेः "सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयन्तारयेन्नर" मित्युक्तरीत्या गर्भाधानाधिकरणन्यायेन सकृदुदकोपस्पर्शनमेवालं विशुद्धये इति साहसिकाः। अत्र संवत्सरमुदकोपस्पर्शनमित्यपरार्कः। प्रायश्चित्तसाम्याद्द्वादशवर्षाण्युदकोपस्पर्शनमिति तु वयम्। पावमान्यादिभिरित्यनेन प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान्। इत्येतदपि द्रष्टव्यम्" इति वदन् हरदत्तस्तु पुनरुपेक्षणीयस्तथासति पावमान्यादिभिरित्येतदुक्तेर्वैयर्थ्यापातात्। प्रतिपु-

१ अनृजोर्मार्गस्य ॥

रूपं संख्यायेत्यादेरच योजनीयत्वे हि सर्वथापि पूर्वोक्तद्वितीयस्थलसाम्ये उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदित्येवाभिदध्याद्दर्षिर्न पुनरुदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभि, रित्यतएवानिर्मूलत्वान्निर्युक्तिकत्वाच्चैष पक्षो हरदत्तीय (१) उपेक्षितोऽपरार्कप्रभृतिभिर्मान्यनिबन्धकारैः, वस्तुतस्तु हरदत्तोऽप्यमुं पक्षमुपेक्षितइत्यग्रे विवेचयिष्याम इति कृतधिय एवावधारयन्तु धर्ममर्मज्ञाः । सू० । 'अथ गृहमेधोपदेशनम् ।' अथ उदकसंस्कारानन्तरं गृहमेधोपदेशनं गृह्यकर्मापयिकवेदैकदेशाध्यापनं नतु सरहस्यनिजशाखासर्वस्वाध्यापनमित्यर्थः । अत एवाह । सू० । 'नाध्यापनम्' । कृत्स्नस्य वेदस्येति फलति । सू० । 'ततो यो निर्वर्त्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे' । ततः—एवं कृतप्रायश्चित्तादृहस्थीभूताद्यो निर्वर्त्तते – उत्पद्यते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुकालं मासद्वयं ब्रह्मचर्यानुष्ठानं तत उदकोप-

(१) यथा चापरार्कग्रन्थविरोधः तथाऽग्रे मूलएव निवेदयिष्यते ॥

६

स्पर्शनं ततोऽध्यापनं सर्वस्यापि वेदस्य यथासम्भवमित्यादि योजनीयम् । सू० । 'तत ऊर्द्धं प्रकृतिवत् । एवमुपनीतादयः पुनरुत्पद्यते स प्रकृतिवदुपनेतव्यः । ब्राह्मणक्षत्रियविशां य औपनायनिको मुख्यः प्रातिस्विकः कालस्तस्मिन्नेव ते उपनेतव्यास्तेषां पूर्वपूरुषीयव्रात्यताप्रयुक्तो न कश्चिद्धर्मभावो न चाऽप्यनुष्ठेयं किञ्चिदधिकमिति भावः । साधु तद् बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणामप्यापस्तम्बाद्युक्तैनोऽपनोदकदीर्घप्रायश्चित्तानुष्ठाने त्रैवर्णिकोचितकार्यकरणेऽधिकार इति समर्थितम् । अत्र प्रायः प्राचीननिबन्धाः शिथिला अन्धपरम्परापरिप्राप्ता विपरीताश्चापस्तम्बर्जितात्पर्यत इति कृतं केषु चित्स्थलेषु स्वातन्त्र्यमिव त्रृषेरक्षरस्वारस्यलभ्यमिति क्षम्यतां बुधैः । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनार्थनिरूपणस्य शास्त्रसिद्धान्तसिद्धतया सर्वर्षिवाक्यैकवाक्यतयैवार्थनिरूपणस्यावश्यकत्वेन कातीयसूत्रार्थं विवेचयामस्तद्यथा "आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवत्याद्वाविंश० शाद्राजन्यस्याचतुर्विंश० शाद्वैश्यस्य

अतऊर्द्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति नैनानुपनयेयु-
र्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्व्यवहरेयुः काला-
तिक्रमे नियतवत् त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणा-
मपत्येऽसंस्कारो नाध्यापनं च तेषां संस्कारेप्सुर्व्रा-
त्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्व्यवहार्या भवन्तीति
श्रुतेः।" इति। तत्र ब्राह्मणक्षत्रविशां मुख्यानौ-
पनायनिककालानभिधाय। 'आषोडशादि" त्या-
दिना गौणकालाभिधानं, गौणकालोल्लङ्घने तु
पातित्यमादिशति। 'अत ऊर्द्ध्वं पतितसावित्री
का" इति "नैनानुपनयेयु" रित्यनेनोपनयनं
निषेध्य "नाध्यापयेयु" रित्यध्यापननिषेधः केन
चिदनभिज्ञायार्थवशेन वा स्नेहानुबन्धेन वा प्र-
कारान्तरेण वोपनीते व्रात्ये तदध्यापनमप्यनर्थ-
करमिति बोधनाय। एवं न याजयेयुरित्यादिष्व-
नुसन्धेयम्। ननु कालातिपाते सर्वथा पुनरनुप-
नेयतैवापद्येतेत्याह "कालातिक्रमे नियतवत्"
कालातिपाते यथा श्रौतेषु स्मार्तेषु च कर्मसु
प्रायश्चित्तमनुष्ठाय प्रकृतकर्मानुष्ठानं नियतं नतु
सर्वथा कर्मलोपः काललोपमपेक्ष्य कर्मलोपस्या-

तिजघन्यत्वात्तथैवाचापि प्रायश्चित्तमनुष्ठाय भव-
त्युपनयनार्हता । यथा स्वस्योपनयनकालातिपाते
त्वापस्तम्बीयमृतुमितकालप्रायश्चित्तं पितुरनुप-
नयने संवत्सरमितप्रायश्चित्तमित्यापस्तम्बधर्मसूत्र-
व्याख्योक्तरीत्योह्यम् । ननु पतितसावित्रीका-
न्नोपनयेन्नाध्यापयेदित्यादिशातातपीयादिवाक्येषु
असकृदाम्नातपतितसावित्रीकपदप्रवृत्तिनिमित्तं
किम् ? (१) विश्वमतिवैश्वरूप्यात् कतिथं वा पुरु-
षमारभ्यानुपनयने भवति 'पतितसावित्रीक इति
व्यवहारः पुनरपत्येषु ? इति शिष्यजिज्ञासामनुरु-
ध्य वा प्राह "त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामप-
त्ये ऽसंस्कारो नाध्यापनं च" इति, अत्र त्रिपुरु-
षमिति "संख्या वंश्येन" त्यव्ययीभावस्तथा च
पतितसावित्रीकाणां वंश्यानां त्रयाणां त्रिप्रभृती-
नां यदपत्यं चतुर्थपञ्चमादि तत्र संस्कार उपन-
यनं न भवति चकारस्य सूत्रस्थस्य समुच्चयार्थत-
या अध्यापनमपि नेत्यर्थः । वक्ष्यमाणव्रात्यस्तोमं

१ पतितसावित्रीकैः किं किमनुष्ठेयमित्यादिसौकर्येण बोध-
यितुं तत्र पतितसावित्रीकपदस्य पारिभाषिकतेति तु निगूढार्थः ।

विना संस्काराध्यापने न भवतस्तदनुष्ठाने तु तस्य सर्वैनोऽपकर्षकतया भवतः संस्काराध्यापने इति वक्ष्यते। अत्र त्रिपदं चतुःपञ्चाद्युपलक्षणं "सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् व्या०। सू०। अ० २। पा० ४ "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" अ० ३ पा १। सू० २ इत्यादिव्याससूत्रेषु यथा त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणोपलक्षणम्। नचैवमर्थकदर्थने लक्षणाङ्गीकार इति यथाश्रुतार्थ एव करणीय इति वाच्यम्। यथाश्रुतार्थस्योपलक्षणत्वपक्षेऽप्यनादराभावात्। नहि त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीका न त्रिपुरुषपतितसावित्रीका यतस्ते सूत्रस्योदक्षरार्थकतामनालम्ब्य सूत्राक्षरैर्न ग्राहयिष्यन्ते। यदि च त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्रीकाणामेव त्रिपुरुषपतितसावित्रीकपदेन ग्रहणमिति कथं त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीकसाधारण्येन त्रिपुरुषपतितसावित्रीकपुरुषपरिग्रह इति शङ्क्यते तदा त्रिपुरुषपदस्य त्रिमात्रपुरुषार्थकत्वे भवतैव साधु समर्थितो यथाश्रुतार्थकत्वपक्षः इत्युपहसनीय एव स्याः। मम तु शतिनोऽत्र सभायां प्रवेष्टव्या

इति संवित्संवेदनानन्तरं यथा तत्र सहस्रिणां लक्षिणां च सभाप्रवेशानुमोदनावगमस्तथाऽत्र त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामनुपनेयत्वे त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीकाणामप्यनुपनेयत्वमार्थिकमित्युदीच्य एव तत्र तादृशो बोधः स्वारसिक इति न तत्र लक्षणावलम्बनमपि विलम्बाय बोधस्य, नच व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहारस्याऽनुभवविरुद्धतया त्रिपुरुषोर्ध्व पतितसावित्रीकाः कथं त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाः, नहि लोके पञ्चपुत्रश्चैत्रस्त्रिपुत्र इति व्यवह्रियते। अत एव "अइउण्" इति सूत्रे भाष्ये "नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते" इत्युक्तमत एवैकपुत्रं पुमांसमधिकृत्य धर्मशास्त्रेषु यन्निषिद्धं विहितं वा न तदनेकपुत्रके प्रवर्ततेऽन्यथा तु बहुपुत्रकस्याप्येकपुत्रत्वेन दुरवस्थैव धर्मशास्त्राणां प्रसज्येतेति वाच्यम्। नहि ब्रूमो वयं दश पञ्चेति व्यवहर्त्तव्याः पञ्च वा त्रय इति, दशपुरुषपतितसावित्रीका वा त्रिपुरुषपतितसावित्रीका इति, संख्याव्यवहारस्य पर्याप्तिसम्बन्धेनै-

वानुभविकतया पञ्चत्वदशत्वपर्याप्त्योः पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मभेदेन भिन्नतया तत्र तथा व्यवहारस्य प्रामाणिकैः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् । किन्तु व्याप्यधर्मावच्छिन्नस्य व्यापकधर्मावच्छिन्नत्वनियमेन पृथिवीत्वावच्छिन्नस्य घटस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वस्येव दशपुरुषपतितसाविचीकाणां त्रिपुरुषपतितसाविचीकत्वनियतत्वेन तेषामनुपनेयतायाः "त्रिपुरुषपतितसाविचीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च" इत्यनेन बोधनीयतया व्रात्यस्तोमानुष्ठानेन चाधिकारितायाः सूत्राक्षरैः सहजत एव लभ्यतया व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहारानुभवविरोधोपन्यासस्य निरुक्तयुक्तिमूलकपातञ्जलभाष्यविरोधसन्दर्शनस्य च सम्भावयितुमप्यशक्यत्वात् । यच्चैवं बहुपुत्रस्याप्येकपुत्रत्वेन एकपुत्रानुष्ठेयवर्ज्जनीयानुष्ठानप्रसञ्जनप्रदर्शनं न तद्विपश्चितां भयावहं तथासति पुत्रवन्मात्रस्यैकपुत्रत्वेन पुत्रवतां सर्वेषामपि तदनुष्ठानवर्जनयोरावश्यकत्वेन विशिष्यैकपुत्रमुद्दिश्य तयाभिधानवैयर्थ्यभीत्या तत्रैकमा-

त्रपुत्रवतएवाधिकारितायाः कल्पनीयतया ता-
दृशातिप्रसञ्जनप्रदर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च
प्रकृतेऽपि "बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणा" मि-
त्यपहाय त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामित्युक्ति-
स्त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्रीकाणा मित्यर्थप्रसाध-
नक्षमेति शङ्क्यम्। कतिथं पुरुषमारभ्यानुपनी-
तत्वे भवत्यपत्येष्वनधिकार औपनायनिक इति
विश्वमतिवैस्वरूप्येण विशिष्यजिज्ञासमाने शिष्ये,
बहुत्वस्य त्रित्वचतुष्टपञ्चत्वषट्त्वादिरूपयाऽत्सं-
ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवेन बहुपुरुषमित्यतः
कतिथं पुरुषमारभ्येति विशिष्यशिष्यजिज्ञासा-
प्रशान्त्यसंभवेन बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणामि-
त्युक्तेः प्रकृते उत्तररूपतायाः संभावयितुमप्यश-
क्यत्वात्। अत्रायमर्थसङ्ग्रहः। आपस्तम्बीये 'यस्य
प्रपितामहादीति तृतीयपर्याये द्वादशवर्षब्रह्मच-
र्यप्रायश्चित्तमभिधाय उपनयनमुक्तं तत उदको-
पस्पर्शनानन्तरं गृह्यकर्मानुष्ठानौपयिकमन्त्रमा-
त्राध्यापनमुक्तं न तु कृत्स्नवेदाध्यापनं, कात्या-
यनेन तु त्रिपुरुषमारभ्यासंस्कृतानामपत्येषु अ-

संस्कारानध्यापने उक्ते, आत्मसंश्चिकीर्षायां तु सर्वैनोऽपकर्षकस्तावद्व्रात्यस्तोमोऽभिहितः, ततश्च, चतुर्थीपत्यादौ कात्यायनापस्तम्बयोरुभयोरप्यसंस्कार्यताऽनुपनेयता चाभिमता, अयं पुनर्विशेषो यदापस्तम्बेन द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तमुक्तं तच्च सर्वैनोऽपकर्षकव्रात्यस्तोममपेक्ष्यापकृष्टमिति तदनुष्ठानेन माणवकस्य गृह्यमन्त्रमात्राध्ययनाधिकारसंपत्तिर्न तु कृत्स्नवेदाध्ययनाधिकारावाप्तिः। व्रात्यस्तोमस्य तु साक्षादपौरुषेयवेदवाक्यसमादिष्टस्याशेषपातकोपशमहेतुत्वमिति तदनुष्ठानात् सर्वैनः प्रक्षालनेन सर्वाधिकारसिद्धिरित्यञ्जसैवैकश्रुतिमूलकत्वरूपैकवाक्यत्वसंगतिरापस्तम्बीयकातीययोरिति न कश्चिद्दोषः। मच्छिष्यास्तु पुनरापस्तम्बीयद्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तस्यापि द्वादशवार्षिकोदकस्पर्शसहितस्य सर्वाधिकारहेतुत्वमल्पकालिकोदकस्पर्शसहितस्य तस्य तु न कात्स्न्र्येन वेदाध्ययनाधिकारप्रयोजकत्वमित्याचक्षते, उचितश्चायमपि पक्षः 'लघुनि लघु गुरुणि गुरु' इत्यार्षन्यायेन पापस्य गौरवे

प्रायश्चित्तगौरवस्यादिष्टतया गुरुप्रायश्चित्तानुष्ठानेन गुरुपातकक्षालनसंभवादिति सुधियः समासादितब्रह्मसंपत्तयः स्वयमालोचयन्तु । यत्तु । (१) कश्चिद्द्विजसंस्कारविलोपलोलुपः । "अथानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये आपस्तम्बेन निषिद्धस्योपनयनस्य प्रतिप्रसवं वदन् कियत्पर्यन्तं संस्कार्यतेत्याकाङ्क्षायां नियममाह त्रिपुरुषपतितसाविचीकाणामपत्येऽसंस्कारो नाध्यापनं च 'त्रिपुरुषमिति' संख्या वंश्येनेत्यव्ययीभावः पतितसाविचीकाणां वंश्यानां त्रयाणां पुरुषाणां यदपत्यं चतुर्थं तत्र संस्कार उपनयनं भवति अध्यापनं तु नेति तदर्थः, चस्त्वर्थे, तदधिकपतितसाविचीकस्य तु न तदाह हरिहरः 'प्रपितामहस्य पितरमारभ्य चतुर्णां पतितसाविचीकाणामपत्ये तु न संस्कारः पूर्वनिषेधादिति, 'यस्य प्रपितामहादीति प्रक्रम्य उपनयनं नाध्याप्यइत्यापस्तम्बोक्तेरस्यायमेवार्थ उचितः। इति, प्रललाप तदेतद-

(१) आधुनिकवैयाकरणपाख्यशेखरपरिभाषेन्दुशेखरादिकारोग्रः ॥

नासादितब्रह्मसंपत्तिकेभ्योऽनाश्रितगुरुकुलश्रमे-भ्योऽपरिशीलितशास्त्रसारेभ्य एवं रोचतां यत आपस्तम्बेनानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये कुर्वतो नोपनयनं न्यषिधीति कथं प्रतिप्रसवं वदन्निति तदभिधानं युज्यताम्। 'यस्य प्रपितामहादीति सूत्रे तथाऽनुक्तेः, यदि च "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदित्यभिधाय "अथोपनयन" मित्युक्त्या स्वतःसिद्धानेकपुरुषसाविन्त्र्यतिपातवतां पुंसामपत्येष्वनधिकारः सिध्यतीत्युच्यते तर्हि तावताऽपि "अथोपनयनमिति सूत्रं न निषेधकमुपनयनस्य, प्रत्युतानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये संस्कारविधायकमिति कथम् "अनेकपुरुषपतितसाविचीकविषये आपस्तम्बेन निषिद्धस्योपनयनस्य प्रतिप्रसवं वदन्निति नागेशोक्तिः संगच्छतां यदि पुनः "तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति वर्जये" दिति सूत्रेण पतितसाविचीकाणां गमनभोजनादेर्निषिद्धत्वे तदीयोपनयनस्य स्वतो निषेधसिद्धिरित्युच्यते तदापि कात्यायनेन व्रात्य-

स्तोमानुष्ठानतो यथाधिकारिता दर्शिता तथा-पस्तम्बेनापि द्वादशवर्षब्रह्मचर्यानुष्ठानेनोपनय-नाधिकारो दर्शित इति कस्य कः प्रतिप्रसवो व-क्तव्यः स्यात्, यदि हि यत्रापस्तम्बेनोपनयनसं-स्कारो निषिद्धस्तत्रैव कात्यायनेनोपनयनं विधी-येत निषेधो वा निषेध्येत तदा प्रतिप्रसवसंभव-इह तु यत्रापस्तम्बेनोपनयनसंस्कारो विधीयते तत्र कात्यायनेनापि, एतावानेव विशेषो यदेकेन द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तं यत्रोक्तं तत्रापरेण व्रात्यस्तोमो विधीयते व्रात्यस्तोमद्वादशवर्षब्रह्म-चर्ययोर्द्वयोरप्यननुष्ठाने तु व्रात्यानां संस्कारो द्वयोरप्यननुमत इति कथं प्रतिप्रसोतव्यप्रति-प्रसवभावाभिधानं संगच्छतामिति कृतधिय एव विदां कुर्वन्तु। कियत्पर्यन्तं संस्कार्यतेत्याकाङ्क्षाया नियमरूपता तु त्रिपुरुषमित्यस्य यथा न सम्भ-वति तथार्वागेव व्यवातिष्ठिपामेति तत एवानु-सन्धेयम्। किं च विधिरूपत्वसंभवे आर्षवचसां नियमार्थत्वकल्पनमपि कदर्थनमेवेति नापरोक्षं जैमिनीयश्रमजुषां विदुषामिति। यदपि चात्र

सूत्रे नागेशेन पतितसावित्रीकाणां यदपत्यं चतुर्थं तच्च संस्कारउपनयनं भवति "अध्यापनं तु नेति तदर्थः, चस्त्वर्थे इत्येवमुक्तं तदपि पूर्वापरशास्त्रतात्पर्यानवबोधनिबन्धनमेव नह्यत्र पतितसावित्रीकापत्यसंस्कारतात्पर्यकता सूत्रस्य वक्तुं शक्या पतितसावित्रीकापत्यसंस्कारप्रयोजकशीर्षण्याया: संश्चिकीर्षाया: "तेषां संस्कारेप्सु:" इत्यनेनाग्रे विवक्षणीयतया ततः पूर्वं पतितसावित्रीकापत्यसंस्काराभिधानतात्पर्यकत्वकल्पनाया: सन्दर्भशुद्धिविरुद्धत्वात्। यदपि तेनैव "तदधिकपतितसावित्रीकस्य तु ने" त्यभिधाय स्वोक्तार्थे "तदाह – हरिहर: "प्रपितामहस्य पितरमारभ्य चतुर्णां पतितसावित्रीकाणामपत्ये तु न संस्कार: पूर्वनिषेधादिति" हरिहरोक्तार्थोपष्टम्भदानं तदपि पुनरन्धस्यान्धदर्शितदिशा कूपपतनोद्यमनायितं यतो "नैनानुपनयेयुर्न याजयेयुरित्यादिना पूर्वसूत्रेण त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीकाणामुपनयननिषेधसिद्धावपि दोषविशेषप्रचिख्यापयिषया पुनरपि निषेधस्या-

पेक्षणीयत्वादन्यथा तु नैनानुपनयेयुरित्यनेनैव उपनयननियतयाजनाध्यापनादेरपि निषेध-संभवे तेषामपि पृथगुत्कीर्तनस्य वैयर्थ्यापातात्। यदपि तेनैवर्षिवचश्चमत्कृतिन्यक्कृतदृग्व्यापारेण "यस्य प्रपितामहादीति प्रक्रम्य उपनयनं नाध्याप्य इत्यापस्तम्बोक्तेरस्यायमेवार्थ उचितः" इति स्वोक्तेरौचितीसन्दर्शनं तदपि हासास्पदं नहि प्रलीनपित्तस्य जरसा जीर्णेन्द्रियजालस्य पञ्जरास्थिशेषशरीरस्य दशमीमापन्नस्य गव्यपयःपचनशक्तेर्माषा न जीर्यन्त इति समुद्दीप्तपित्तानलसमुत्पादिताशनायोदन्यासमुत्सारणावरुद्धाशेषव्यापारस्योनषोडशवार्षिकस्य यूनोऽपि ते दुष्पचा इति मतिमतोत्प्रेक्षणीयमपि। आपस्तम्बोक्तस्य द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तस्याल्पकालिकोदकस्पर्शसचिवस्याल्पपापापकर्षकस्योपनयनमात्राधिकारकारकत्वेन सर्ववेदाध्ययनाधिकारिताप्रयोजकत्वासंभवेऽपि बलवतो व्रात्यस्तोमस्य "अत ऊर्द्धं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतो" रित्यादि-

स्मृतिभिस्तांड्यब्राह्मणेन च सर्वपापापकर्षकतायाः प्रमापणेन तस्य तथाभावो दुस्त्यज एव नहि कुक्षीधान्यश्चेदद्वौदरो भुङ्क्ते तर्हि ग्रामाध्यक्षेणाप्यद्वौदरेण भवितव्यं, नह्येकपदा न गंस्यतइति भीतो द्विपादपि न गच्छेत् । ततश्चाल्पप्रभावेणापस्तम्बोक्तद्वादशवर्षब्रह्मचर्येण चेदध्ययनमात्राधिकारित्वं संपादितं तर्हि बलवत्तमेन व्रात्यस्तोमेनापि तावन्मात्राधिकारितैव संपादनीयेति किं राजाज्ञास्ति ? । व्रात्यस्तोमद्वादशवर्षब्रह्मचर्ययोरप्यननुष्ठाने तु यथोपनयनमात्रस्यापि नाधिकारिता तथार्वागेवोपापादयमिति सत्यसन्धा एवानुसन्दधतु कीदृशीयं नागेशस्यौचिती सन्दर्शना स्वव्यवस्था स्विति । यदपि "यत्तु कात्यायनगृह्यसूत्रव्याख्याता गदाधरेण तेषामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च नेत्येवमेतत्सूत्रं व्याख्यातं, हरिहरस्तु मृग्यं इति चोक्तं तदनेन परास्तं पूर्वनिषेधेनैव सिद्धेश्च सच बहुदोषश्रवणाद्दहुपुरुषं पतितसावित्रीकविषयोऽपि संस्काराभावे अध्यापनाप्रसक्त्या नाध्यापनमि-

त्यस्य वैयर्थ्यापत्तेश्चेति" नागेशस्तदपि तस्य शास्त्रार्थानवबोधनिबन्धनमेव तद्यथा तदनेन यदपास्तमित्यस्य "उपनयनं नाध्याप्य इत्यापस्तम्बवाक्यैकवाक्यत्वेनेत्यर्थो वक्तव्यः स चास्माभिः पूर्वमेव बहुधा निराकृतः कात्यायनापस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तयोर्गुरुलघुभावेन तत्फलयोः साम्यसंकीर्तनायाः शास्त्रतात्पर्यावबोधिना व्याहर्तुमप्यशक्यत्वात्ततश्चापस्तम्बीयस्य लघुनः प्रायश्चित्तस्योपनयनमात्राधिकारिताप्रयोजकत्वेऽपि गुरुणः कातीयप्रायश्चित्तस्योपनयनकृत्स्नवेदाध्ययनोभयाधिकारिताप्रयोजकत्वं युक्तमेवेत्यापस्तम्बवाक्यैकवाक्यताकदर्थनया कात्यायनसूत्रार्थकथनं कथं चिदपि बुद्धिमतां विचारपथं नाधिरोहतीत्यतिरोहितमेव। किं च कात्यायनेन "त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं चे"त्यनेन संस्काराध्यापनोभयानधिकारितामुपदर्श्य संस्कारेप्सासत्त्वे "तेषां संस्कारेप्सुरित्यादिना व्रात्यस्तोमप्रायश्चित्तमुक्तम्। आपस्तम्बेन तु यस्य प्रपितामहादीति सूत्रे "ते-

षामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपनयनं तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः, अथ गृहमेधोपदेशनं नाध्यापनमित्युक्तमिति कथमापस्तम्बानुरोधेन कातीये 'संस्कारस्तु भवति न पुनरध्यापन' मित्ययमर्थो वक्तव्यः स्यात् कात्यायनो हि प्रथमतोऽनधिकारितामभिधाय प्रायश्चित्तमभिधत्ते, आपस्तम्बस्तु द्वादशवर्षप्रायश्चित्तमुदकोपस्पर्शनं चाभिधाय तस्य गृह्यमन्त्रमात्राध्ययनौपयिकतामाहेत्यकृतप्रायश्चित्तकृतप्रायश्चित्तयोः कथं समानाधिकारत्वापस्तम्बानुरोधेन कातीयार्थकथनं कथं चिदपि न संभाव्यते, यद्यकृतप्रायश्चित्तावस्थायामुभाभ्यामधिकारिता निर्णीयेत, कृतप्रायश्चित्तावस्थायां वा तदैकवाक्यतोद्यमः संभावितफलः स्यादिह तु कात्यायनः प्रायश्चित्ताननुष्ठानदशायामनधिकारित्वं संस्काराध्ययनयोर्ब्रूते । आपस्तम्बस्तु प्रायश्चित्तानुष्ठानदशायां संस्काराधिकारितामध्ययनानधिकारितां चाचष्ट इति कीदृशीयमेकवाक्यता निदर्शना नागेशस्येति कृत-

धियएवं विभावयन्तु। यदि च त्रिपुरुषपतितसा-
वित्रीकाणां, संस्कारः - आपस्तम्बोक्तप्रायश्चि-
त्तेनोपनयनसंस्कारः। नाध्यापनं च अध्यापनं तु
व्रात्यस्तोमानुष्ठानं विना न भवतीत्येवमर्थोप-
वर्णनेन भवत्यापस्तम्बकात्यायनवाक्यैकवाक्यता
"तेषां संस्कारेप्सु" रित्यत्र च संस्कारपदेनोप-
नयनाख्यसंस्कारविशेष एव गृह्यते, तथा च वेदा-
नधिजिगांसुर्व्रात्यस्तोममनुतिष्ठेदनधिजिगांसुस्तु
केवलमात्मानमुपनिनीषुर्द्वादशवार्षिकब्रह्मचर्य-
मापस्तम्बोक्तं कुर्यात्। युक्तश्चायमर्थोऽग्रे "का-
ममधीयीर" न्निति सूत्रकृताऽध्ययनमात्राधिका-
रितायां एवोक्तत्वादितरथा तु काममुपनयेरन्नि-
त्युक्तं स्यादित्युच्यते तदापीदं दुर्मेधसो दुर्म-
नीषितमेव, संस्कारेप्सुपदस्याध्ययनाख्यसंस्कार-
विशेषविषयकेच्छावत्परतायाः संस्कारपदस्य चा-
पस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तेनोपनयनपरतायाः, चकारस्य
सूत्रस्थस्य च त्वर्थकतायाः "संस्कारो नाध्यापनं
चे" त्युभयत्रान्वयबुबोधयिषया मध्याध्यासितस्य
नञोऽध्यापनं नेति योजनायाश्च कष्टकल्पनीय-

त्वेन यथाश्रुतार्थस्यैवादरणीयत्वात्। न च तथापि व्रात्यस्तोमो नोपनयनाधिकृतयेऽलं तस्याध्ययनमात्राधिकारिताप्रयोजकतया उपनयनेऽकिञ्चित्करत्वेनापस्तम्बोक्तद्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यावश्यकतयोक्तार्थोपवर्णनं युक्तमेव नहि महाव्याहृतिमन्त्रो बलवानिति तस्यान्नप्राशने विवाहे वा विनियोगसम्भवः, इतिवाच्यम् "काममधीयीरन्निति सूत्रे उपनयनोत्तरकालिकाध्ययनार्हताबोधनेनोपनयनार्हताया अपि तत एव सुकल्पत्वेनान्तरापस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तानुष्ठानकल्पनायाः सुदूरपराहतत्वात्, अत एव त्वशेषपापापसरणौपयिकपर्याप्तिप्रदर्शनाय "काममित्यध्ययनपूर्वकयजनयाजनादिसामर्थ्यसंकीर्त्तनं, तदपि च न व्रात्यस्तोमानुष्ठानजमस्तोभसामर्थ्यमामुष्मिकमेव, परमैहिकामुष्मिकसाधारणमिति बोधनाय "व्यवहार्या भवन्तीति ततश्च तैर्याजनयौनादिव्यवहारः सर्वोऽप्यप्रतिबद्ध इति भावः। पूर्वनिषेधेनैव सिद्धेश्चेत्येतस्य त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपि कालातिपातपतितसावित्रीकत्वेन "नैना-

नुपनयेयु" रिति निषेधेनैवोपनयननिषेधसिद्धा संस्कारो नेति वाक्येन पुनर्निषेधनमयुक्तमित्ययमर्थो वक्तव्यस्तथा – चेदमभिधानं नागेशस्य "आत्मनो विरुद्धमाचाणीत्येतदाभाणकोदाहरणतामाहरति – किं, त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं चेत्यस्य संस्कारस्तु त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणां भवत्वध्यापनं तु नेत्येवं भवदभिमतार्थोपवर्णने नाध्यापनमित्यस्य वैयर्थ्यं नास्ति ? किंच नाध्यापयेयुरित्यनेन पूर्वमध्यापनस्यापि निषेधेन पुनर्निषेधनमध्यापनस्याप्ययुक्तमेव यदि च दोषविशेषख्यापनार्थं पूर्वं निषिद्धमप्यध्यापनं पुनर्निषिध्यतइत्युच्यते तर्हि पूर्वं "नैनानुपनयेयु" रित्युपनयनस्य निषधेऽपि "संस्कारो न" इत्ययं निषेधो दोषविशेषसंकीर्तनार्थ इति मयापि वक्तव्यमिति किं पाणिपिहितम् ? यदि पुनः, संस्कारे जाते अध्यापनं प्रसक्तमिति मन्यते 'नाध्यापन' मित्ययं निषेधो युज्यते तव तु संस्कारस्यापि निषेधे सुतरामध्यापननिषेध इति पृथगध्यापननिषेधोऽप्रसक्तप्रतिषेध एवेत्युच्यते

तदा सावित्र्यतिपातवतः पुरुषानुद्दिश्य पूर्वं "नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न व्यवहरेयुरिति" सूत्रे कस्य हेतोरुपनयनं प्रतिषेध्य, नाध्यापयेयुरित्यध्यापनाप्रतिषेधो, भवदुक्तरीत्या तु तत्राप्युपनयनाभावे उपनयनद्वारकमध्यापनं कैमुतिकप्रतिषिद्धमिति पृथगध्यापननिषेधोऽसमञ्जस एव स्यादिति यदेव चार्या तत्र भवतस्तदेवेह समाप्यवेहि। यदि तु केन चिदर्थपरायणेन उपनयने कारितेऽपि पुनरध्यापनमप्यनर्थकरमिति बोधयितुं "नोपनयेयुरित्यभिधाय, नाध्यापयेयुरित्युक्तमित्युच्यते तर्हि प्रकृतेऽपि यथा पतितसावित्रीकाणां संस्कारोऽनिष्टसाधनं तथा तेषामध्यापनमिति बोधयितुं संस्काराध्यापनयोरुभयोरपि प्रतिषेधस्तयोः साम्येनानिष्टसाधनत्वसंकीर्तनायेत्यवधारय, इतरथा तु कस्य चिदर्थलोलुपस्य व्रात्यसंस्कारमात्रमधिकानिष्टसाधनं प्रतिपद्यमानस्य, भवेदपि व्रात्याध्यापने प्रवृत्तिरुभयोरनिष्टसाधनतां समां तु प्रतिपद्यमानो नोभयत्र प्रवर्त्स्यतीत्यमुमेव प्रत्यवायसाम्यरूपमर्थमवगमयितुं 'सं-

स्कारो नाध्यापनं चेति' चकारोपादानमिति चतुरस्तमतयश्चतुराः स्वयमुक्तदिशा दूषणान्यूहन्ताम्। यदपि स एव "नच चतुरादिपुरुषपर्यन्तंपतितसावित्रीकाणामपत्ये त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपत्यत्वमस्तीति वाच्यं, व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहाराभावात् अत एव "नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभत इत्यद्रुत्तण् सूत्रे भाष्ये उक्तमन्यथा बहुपुरुषमित्येव वदेत्" इत्यतिव्यस्तं प्रललाप तदत्यन्तमनुपादेयम्। तद्यथा न ब्रूमो दश पञ्चेति पञ्च वा चत्वार इति व्यवहरणीयाः किन्तु दशापत्यस्य पञ्चापत्यानि न वर्त्तन्त इत्यव्यवहाराद्व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वनियमादिह त्रिपुरुषाधिकपतितसावित्रीकाणामप्युपग्रहसंभवादिदमकिञ्चिदित्यवोचाम पूर्वमत एव भाष्यकारोऽपि "व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहाराभावादित्येवाभिधत्ते इतरथा तु व्यापकसंख्यावति व्याप्यसंख्याविरहादित्येवाभ्यधास्यदिति व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्न-

त्वनियतत्वेन न कश्चिदिह दोषगन्धः। अत एव महाभाष्यकृता 'नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभत इत्युक्तं न तु त्रिपुत्रस्य द्वौ पुत्रौ न वर्त्तेते इति। यच्चोपष्टम्भकतयोपन्यस्तम्, "अन्यथा बहुपुरुषमित्येव वदेत्" इति तदेतदविचारसारं 'कतिथं पुरुषमारभ्य पतितसावित्रीकत्वव्यवहारोऽनध्यापनं चेत्येवं शिष्यजिज्ञासायां "बहुपुरुषमित्यस्योत्तरभावासम्भवादिति न्यरूपयाम पूर्वमित्यलं पल्लवितेन। यदप्येष एव धर्मशास्त्रोन्मार्गगः। "एवं चैतदेकवाक्यतया यस्य प्रपितामहादीत्यापस्तम्बस्मृतिरपि त्रिपुरुषपतितसावित्रीकविषयैव किञ्च यद्वंशे नोपनयनं स्मर्यते इत्येव सिद्धे यस्य प्रपितामहादीति विशिष्योक्तिर्निष्फला। अत एव धर्मशास्त्रैस्तु विहितमिति वाक्ये हरदत्तेन तु नाऽरुचिर्बोधिता तद्वीजं तूक्तमेव स्मृत्योरेकमूलकल्पनालाघवानुरोधेनैकार्थ्यं सम्भवति भिन्नार्थत्वमन्याय्यमिति सर्वधर्मशास्त्रनिबन्धकृतां सिद्धान्तात्"। इति व्याहतमाह तदत्यन्तनिस्सारं तथाहि त्रिपुरुषं पतितसावि-

त्रीकाणामिति कात्यायनस्मृतेः त्रिमात्रपुरुषपतित-
सावित्रीकार्थकतायाः पूर्वं बहुधा निराकरणेन
तदेकवाक्यतयोक्तापस्तम्बस्मृतेः कथं त्रिपुरुषं
पतितसावित्रीकविषयत्वं समर्थितं स्यात्। किं-
च यदि आपस्तम्बस्मृतिस्त्रिपुरुषं पतितसा-
वित्रीकविषयैव तदा "यस्य त्रिपुरुषं नानुस्मर्येत
उपनयनमित्येवासूत्रयिष्यदृषिः किमिति 'यस्य
प्रपितामहादि नानुस्मर्येत इत्यसूत्रयिष्यदिति
तवैव तथा सति दुष्परिहरं चोद्यमापद्येत अ-
त्रत्यविशेषं त्वापस्तम्बसूत्रार्थकथनेऽचकथमिति
तत एवानुसन्धेयम्। यच्चापस्तम्बस्य त्रिपुरुषाधिक-
पतितसावित्रीकविषयत्वे 'यद्वंशे नोपयनमित्येव
सिद्धे 'यस्य प्रपितामहादीति विशिष्योक्तिर्नि-
ष्फलेति तदेतदप्यमन्दमान्द्यनिबन्धनमेव वंश-
पदार्थतायाः स्वपितृभ्रातृस्वप्रपितामहभ्रात्रादि-
रूपानेक बहुशाखप्रशाखपुरुषसन्ततिसाधारण्येन
जन्मविद्योभयसाधारण्येन चातिप्रसञ्जकतया त-
थावक्तुमशक्यत्वात्। नहि वंशपदार्थः स्वजनक-
तज्जनकजनकादिपुरुषनियतएव स्वाजनकेषु स्वी-

यप्रपितामहादिष्वाचादिष्वपि स्ववंशपदार्थतया लोकशास्त्रोभयसिद्धतया स्वजनकसंप्रदायनैयत्यस्य वंशपदार्थे प्रवेशासम्भवेन "यद्वंशे नोपनयन" मित्यनुक्तेरापस्तम्बीये चिपुरुषपतितसाविचीकत्वार्थकत्वप्रसाधकत्वायोगात्। "अत एव धर्मशास्त्रैस्तु विहितमिति वाक्ये हरदत्तेन तुनाऽरुचिर्बोधिता" इति यदभिहितं तदपि विपश्चितां चमत्कारकारकं हरदत्तेन हि प्रकृतापस्तम्बधर्मसूत्रं व्याख्याय शेषे "यस्य तु प्रपितामहस्य पितुरारभ्य नानुस्मर्यत उपनयनं तत्र प्रायश्चित्तं नोक्तं धर्मज्ञैस्तु विधातव्यमेवं ततः पूर्वेष्वपि" इत्युक्तं तस्यायमर्थः – चिपुरुषोर्द्ध्वपतितसाविचीकाणां प्रायश्चित्तं यद्यपि आपस्तम्बर्षिणा कण्ठतो नोक्तं तथापि धर्मज्ञैः – धर्मशास्त्रार्थतत्वज्ञैः स्वयमूहित्वा उपदेष्टव्यमनादिष्टप्रायश्चित्तस्थले प्रायश्चित्तोहनस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात्। एवं ततः पूर्वेष्वपि प्रपितामहपितृपूर्वजेषु संस्काराश्रवणेऽपि यावत्पर्यन्तं गोत्राद्यनुस्मृतिर्द्विजत्वव्याप्यक्षत्रियत्ववैश्यत्वादिधर्मज्ञानं चाबाधं तावत्तं-

स्कारः प्रायश्चित्तमुपकल्प्यानुष्ठापयितव्यः । इत्ययं हरदत्तपङ्क्त्यर्थः पङ्क्तिपाठोऽपि चन नागेशोक्तरीत्या प्राचीनतमपुस्तकेष्वपि तथानुपलम्भात् परन्तूपवर्णितरीत्येति विद्वांस एव श्रद्धाजाड्यमलभमाना निरीक्षन्तां कीदृशीयं "हरदत्तेन तुनाऽरुचिर्बोधितेति नागेशोक्तिरिति शम् । यदपि स एव तद्बीजं तूक्तमेव स्मृत्योरेकमूलकल्पनालाघवानुरोधेनैकार्थ्यं सम्भवति भिन्नार्थत्वमन्याय्यमिति सर्वधर्मशास्त्रनिबन्धकृतां सिद्धान्तात्" इत्युपन्यास्यत्तदपि परमते एकवाक्यताविरहमेवावेदयति तत्किमस्माकमैकार्थ्यं नास्ति यथा च नागेशमते आर्षवचः कदर्थनं तथा तत्र तत्रोपपादितमिति द्रष्टव्यम् । 'त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामित्यस्य त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्रीकाणामित्याद्यर्थोपवर्णनं तु भ्रममूलमेव "देशं कालं वयः शक्तिं पापं चापेक्ष्य यत्नतः । प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृति"रित्यादिना याज्ञवल्क्येन देशकालवयोनिरीक्षणेन प्रायश्चित्तोहनस्य स्पष्टमुक्ततया ऋषिवाक्यतः प्राय-

श्चित्तालाभेऽपि तत्कल्पनाया अनुमतत्वात् । न चैवं प्रायश्चित्तप्रकल्पने पुरुषसंख्यायाश्चानियमे भूतपूर्वक्षत्रिया आधुनिकम्लेच्छाः पारसीकदेशनिवास्तव्या हलमन्द्रदेशवास्तव्याः चीनाः खसाश्चापि भवतोऽनुमताः संस्कार्यत्वेनेति साधुसंरक्षितो धर्मो वैदिकः पुण्यपूरुषेण भवतेत्युपालम्भनीयमज्ञानतः, त्रैवर्णिकस्य सतः संस्कार्यस्य गुरुगोत्रादिसम्बन्धानुवृत्तेः, पुरोहिताचार्यर्त्विगुपाध्यायादिलक्षणब्राह्मणसम्बन्धानुवृत्तेः कथंचिदपि यजनयाजनप्रतिग्रहादिलक्षणव्यवहारसम्पत्तेश्च म्लेच्छपतितादिव्यावृत्तायाः शूद्रव्यावृत्तायाश्च संस्कारकारणताया आङ्गनागोपालबालमानुभविकतया विधेयवैधेयानामेवैतादृशशङ्कासमुल्लासप्रसरात् । यद्यपि शूद्रा अपि काश्यपगोत्रा इति लौकिकी शास्त्रीया च प्रसिद्धिस्तथापि न ते द्विजा इति न तेषां संस्कारप्रसङ्गः । न च भवदभिमतानां क्षत्रियवैश्यानां द्विजत्वमेव मम नाभिमतमिति सर्वमेतद् व्याकुलो स्यादिति जघन्य-

तर्म एङ्कनीयम् । तथा सति सार्वजनीनव्यवहारमार्गमवगूरयतस्तवैव द्विजत्वामिद्धौ सर्वव्यवहारविलयापत्तेः । किञ्च यदि क्षत्रि-या वैश्याश्च न सन्ति तर्हि कलौ तेषामनुपनेयताप्रसाधनाय प्रमाणपारायणमपि तवानर्थकमेव त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीकक्षत्रियादीनां कलौ संस्कार्यत्वनिराचिकीर्षया आपस्तम्बवचसोऽर्थकदर्थनं मया सह शास्त्रार्थे प्रवृत्तिश्चैतत्सर्वं कूर्मरोमायितमेव स्यात् नहि आवयोर्विचारप्रवृत्तिः कलौ क्षत्रिया वैश्याः श्च न सन्तीत्युपगम्य किन्तु सन्तोऽपि ते विच्छिन्नसंस्क्रियाः संस्कार्या न वेत्युपक्रम्येति प्रकृते सर्वथाऽनीश्वरो भवांस्तेषामसत्त्वसमर्थने, यदि च सर्वथा क्षत्रियादीनामसत्वं कलावभ्युपेत्य ब्रूषे तर्हि कथान्तरमिदमित्यग्रे निराकरिष्यामः । अस्ति चायमर्थो भगवतोमनोरनुमतस्तथा हि १० अ० । शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च ४३। पूर्वं यथावदुपनयनादिसंस्कारव-

न्तोऽपि क्षत्रियादयः 'शनकैः' अत्यन्तं शनैः क्रियालोपादेकैकसंस्कारविलोपादिक्रमेण च्युतसंस्काराः। तत्रापि च वेदविदां ब्राह्मणानां याजनाध्यापनप्रायश्चित्तादिरूपशोधकव्यापाराप्रवृत्तौ वृषलत्वं पातित्यं गताः 'इमाः' वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातयः 'पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः' इत्यादिना, क्षत्रियपदं (१) चात्रोपलक्षणं ब्राह्मणवैश्ययोरपि ततश्च भूमिलोभादिना यदेशं परित्यज्याङ्गीकृतप्रत्यन्तवासप्रयासानामत्यन्तगर्हिताचाराणामभक्ष्यभक्षणादिजुषां सर्वेषामप्यमीषां त्रैवर्णिकानां चिरमनासादिततत्प्रतिकृतीनां सर्वथापि त्रैवर्णिकत्वव्यवस्थापकलिङ्गविगमे पातित्यमभिहितमिति क नाममध्यदेशनिवासिषु क्षत्रियवैश्येषु जयपुर जम्बू रींमा बुन्दी भिनगादि नगराधिपेषु मध्यदेशनिवासिद्विजाग्र्यपादरजःक्षालनक्षालितसर्वकरणेषु दानावधीरितकर्णेषु स-

(१) युक्तं चैतदग्रे मनुनैव "मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः" इति प्रत्यन्तवासिनां सर्वेषामपि पातित्याम्नानात्।

करणाभ्यां पातित्यशङ्काऽवकाशः, नहि मनोः कुरुक्षेत्राद्यार्यदेशनिवासिषु क्षत्रियवैश्यादिष्ववगूरणागन्धोऽपि अत एव तु अत्रैव प्रकरणेऽग्रे "मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः इति प्रत्यन्तवासप्रवासितस्वजातिसमयाचाराणां म्लेच्छसंसर्गिणामेव दस्युपदाभिधेयत्वमुक्तम्। "या लोके जातयो बहिरिति" एतेन एतैरेव मनुवचनैः कलौ ब्राह्मणशूद्रातिरिक्तवर्णाभावं प्रसाधयन्तोऽपाकृताः, पूर्वोक्तरवचननिचयनिरीक्षणेन भूतपूर्वद्विजानामपि चीनखसपौण्ड्रकादीनां प्रत्यन्तवासिनां म्लेच्छसंसृष्टानामेव युगविशेषनैरपेक्ष्येण पातित्यावगमात्। तस्मात्पुरुषसंख्याविशेषानियमे भूतपूर्वक्षत्रियाणां हलमन्द्रकेकयपारसीकादिदेशनिवासिनां संस्कार्यतामापाद्य परान् जुगुप्समाना निःक्षत्रवैश्यं साम्प्रतिकसमयमातिष्ठमानाः परं मन्दमतयएवेति विदुषां परामर्शः। किञ्चेमेऽनुरुध्येममर्थं प्रष्टव्याः। कस्य हेतोराधुनिकेषु क्षत्रियेषु वैश्येषु च भवतामकारणद्वे-

षः । यदि च न द्विष्मः, परमेते व्रात्या इति न संस्करणीया इति ब्रूध्वे तर्हि व्रात्यतासमकक्षदोषदूषितेष्वपि तथैव व्यवहर्त्तव्यं धर्मध्वजैर्भवद्भिः । यथाह मनुः । अ० ११ । श्लो० ६३ । व्रात्यताबान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च । भृत्याच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः । तथा च व्रात्यसहपठितेषु भृतकाध्यापकेषु भृतकाध्यापितेषु ब्राह्मणेषु वार्द्धुषिकेषु च कोऽयं भवतामात्मीयताग्रहो यदिमे, न द्विष्यन्ते, यदि च अभ्यस्यमानतया गौरवङ्गता व्रात्यतेति महापातकिनाममीषां नाम्नाप्यलमश्रेयस्करेणेति वदथ, तदाप्येते स्वचिया वंशक्रमागतभृतकाध्यापककुलानि नातिशेरतइत्यतोऽपि तत्समाना एव, यदि च 'यदि केन चित्कथंचिदपि कुक्कुटाण्डमश्नता सहासनाशनादिकं क्रियते तर्हि तेनावश्यं लशुनाशिना सहाशितव्यमासितव्यं चेति नाग्रहो युक्तः। कुक्कुटाण्डलशुनाशिनोरेकवाक्यस्थसमपातकशालिनोरुभयोरेवोपग्रहमपेक्ष्यैकोपग्रहस्याल्पपापहेतुतायाः सर्वास्तिकसम्मततया भृतकाध्यापकैर्लौकिकलज्जादि-

ना केनापि कारणेन व्यवहरन्तोऽपि नानुमन्यामहे व्रात्यसंस्कारमिति कोऽपराधोऽस्मदीयः। नहि कृष्णाष्टम्यान्नोपवासोऽनुष्ठित इति शिवरात्रिव्रतमप्युल्लङ्घनीयम्। नहि कश्चन म्लेच्छो वेदानध्यापित इति तेन यौनसम्बन्धेऽपि न भेतव्यमिति युक्त, मिति श्लिष्टतममुच्यते, तदा व्रात्यसंस्कारस्यापस्तम्बाद्युक्तप्रायश्चित्तानुष्ठानानन्तरं वेदानुमततया नैते क्षत्रियाश्चीर्णप्रायश्चित्ताः कृतसंस्काराः अचीर्णप्रायश्चित्तैर्भृतकाध्यापकवार्द्धुषिकादिभिः सममुपमेया युक्तियुक्तार्थग्राहिणा भवतेति साञ्जलिबन्धमभ्यर्थयामहे, तस्मादेष केषांचिदमीषाममीमांसितधर्मशास्त्राणां जामदग्न्यंमन्यमनसां क्षत्रियकुलेष्वकुण्ठकुठारोद्यमः स्वीयप्रज्ञाकुण्ठाहेतुक एवेति शम्। योऽपि साभिमानम्। "अभ्युपेत्यापि ब्रूमः पूर्वे (२) इत्यत्र कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रयाणामेव ग्रहणापत्तौ स-

(२) सत्यसरस्वतीपुस्तकालयस्थभागीग्रग्रन्थे पूर्वे इति पाठोपलम्भेऽपि स पाठो लेखकप्रमादजः, वस्तुतस्तु पूर्वेषु इत्येव पाठो युक्तः हरदत्तग्रन्थे तथैवोपलम्भात्।

समस्योपनयनलाभेऽपि तदूर्ध्वस्याष्टगादेरुपनयने मानाभाव" इति मीमांसामांसलत्वप्रदर्शनायासः सोऽप्यसावस्थानसन्नाहः । नहि बाधकासमवधाने बहुवचनमात्रं प्रथमतस्त्रित्वसमानाधिकरणं बहुत्वमेवावगमयतीति नियतिस्तथासति 'गुरून्नावमानयेत्' 'परान्नोपेक्षेत' 'परस्वानि नापहरेत्' 'परदारान्नाभिमृषे' दित्यादिशास्त्रेषु त्रित्व-

(१) अत्रेदमाकूतं णिजामिति सूत्रे गणान्ततानिबन्धनं त्रिग्रहणानर्थक्यमाशङ्कितं, प्रकरणेन णिजामपरिच्छेदे हि त्रिग्रहणासत्त्वे बहुवचनमहिम्ना स्यात् त्र्यधिकग्रहणमिह तु प्रकरणादेव त्रिग्रहणासत्त्वेऽपि, न त्र्यधिकपरिग्रह इति त्रिग्रहणमनर्थकमिति पतञ्जलिराशङ्क्य "भृञामित्" अत्र त्रिग्रहणासत्वे बहुवचनेन चतुरादीनां ग्रहणं मा प्रसाङ्क्षीदिति, तत्रानुषञ्जनेन तत्सार्थक्यमिति समादधौ एवं चेह कपिञ्जलन्यायाप्रवृत्तावपि त्रिग्रहणासत्वेपि न तदधिकपरिग्रहसंभावनेति त्रिग्रहणानर्थक्यमाशङ्कितवतः पतञ्जलेः प्रकृते कपिञ्जलन्यायप्रवृत्तिबीजभूतत्र्यधिकपरिग्रहप्रसञ्जनपूर्वकं त्र्यधिकपरिग्रहबाधकोपलम्भो न विद्यत इति लाघवमुपजीव्य प्रवृत्तं त्र्यधिकपरिग्रहबाधकोपलम्भमानस्याप्यमुष्य कपिञ्जलन्यायस्य त्र्यधिकपरिग्रहबाधकोपलम्भमुखनिरीक्षणसापेक्षस्य प्रकृते त्र्यधिकभृञादिपरिग्रहे लक्षणैकचक्षुष्काणामयोगिनां बाधकानवतारात् स्यात् त्र्यधिकानां ग्रहणमिति तद्व्युदासाय 'त्रयाणामिति' एतस्य सामान्यापेक्षज्ञापकतामवलम्ब्य च नागेशेन अस्मादेव ज्ञापका——

समानाधिकरणबहुत्वावच्छिन्नगुर्वाद्यवमाननाया बोधे जगद् व्यवहारोप्लवप्रसङ्गात्। अन्यथा पाणिने "निर्जा त्रयाणां गुण" इति सूत्रे (१) त्रयाणामित्यपार्थकमेव स्यादभिधानं 'निजामि' त्यभिधानस्य भवदभिमतशैल्या स्वरसत एव त्रयाणामेवावगमकत्वात्। यत्र तु बाधकसमवधानं तत्र चतुष्टादिसमानाधिकरणबहुत्वमुपेक्ष्य त्रित्वसमनाधिकरणमेव तद्गृह्यते यथाऽश्वमेधप्रकरणे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य बहुवचनस्य द्वित्वाधिकसंख्यात्वस्वरूपबहुत्वसाम्यात्। त्रित्वचतुष्टपञ्चत्वषट्त्वाद्यवच्छिन्नोपग्राहकत्वप्राप्तौ चीनपजहता चतुराद्युपादातुं न शक्यमित्यवर्जनीयोपादानानां त्रयाणामेवोपादानेन शास्त्रार्थस्यानुष्ठानसम्भवान्न तत्र चतुराद्युपा-

(१) इह शास्त्रे कपिञ्जलन्यायो न प्रवर्तत इत्युक्तमव्ययशेखरे वस्तुतस्तु भृञामिति सूत्रे नञ्चर्णैकचतुष्काणां त्र्यधिकबाधकानवतारात् त्र्यधिका मा ग्राहिषतेति त्रिग्रहणस्य साफल्यात्कीदृशी तस्य ज्ञापकतेति सुधिय एव क्षमा विचारयितुम्। यत्र व्याकरणे तत्र तत्र कपिञ्जलन्यायानवतारः सोऽप्यसौ कपिञ्जलन्यायप्रवृत्तिबीजभूतबाधकावतारविरहनिबन्धन एवेति सूक्ष्मदृशो विभावयन्तु ।

दान,मधिकपक्षिहिंसायां प्रत्यवायात् । अत्र हि "न हिंस्यात्सर्वाभूतानि" इति श्रुतिः सर्वप्राणिहिंसां वर्जयन्ती विप्रकृता स्यात् अधिकपक्षिहिंसने, इति समुचितं अधिकपक्षिविशसनवर्जनम् । तथा चैष न्यायः प्रकृते नावतरितुमीष्टे, यस्य प्रपितामहादीति शास्त्रे आदिपदेन अधिकानामनुपनीतपूर्वपुरुषाणामुपादाने कपिञ्जलालम्भनस्येव बलवत्तरबाधकानुपलम्भात्। यत्र हि बलवत्तरबाधकावतारस्तत्रैव बहुवचनं चतुराद्युपादानाशक्यवर्जनानां प्राथमिकोपस्थित्यात्मकलाघवोपनीतानां त्रयाणामेवोपग्राहक, मतएव ब्राह्मणान्भोजयेदित्यादौ शास्त्रीयाधिकायाससमासादनेन अधिकब्राह्मणभोजनेन भवत्यदृष्टातिशयोऽन्यथा तु चतुरादिभोजने विधिभ्रंश एव स्यात्। न चेह तथा, बाधकाऽनुपलम्भात् । न च 'नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयु' रित्यादेर्निषेधस्य प्रकृतेऽपि विद्यमानत्वात् । 'यस्य प्रपितामहादीति' सूत्रस्थमादिपदं नाविघ्नप्रचारं सदुपग्राहकं अधिकानामिति, कपिञ्जलन्यायेन सङ्कोचः समुचित

इति वाच्यम् । (१) अचीर्णप्रायश्चित्तानामेव शास्त्रेषूपनयनादेर्निषिद्धतया कृतप्रायश्चित्तेषु सामान्यतश्चोद्यमाननिषेधदेशनाया वक्तुमशक्यत्वात् न च 'विधिस्पृष्टे दोषानवकाशन्याये‍न विधिपरिचोदितकपिञ्जलहिंसने प्रत्यवायसंस्पर्शः कुतस्त्यः। अत एव तु "अशुद्धमिति चेन्न शब्दा" दिति भगवान् व्यासोऽपि तृतीयस्य प्रथमे पादे प्राह युक्तं चैतदन्यथा कपिञ्जलालम्भनस्य प्रत्यवायहेतुत्वे तस्य विधेयत्वानुपपत्तेः । काम्ये हि अश्वमेधादौ कामनानुगा प्रवृत्तिस्तदङ्गेषु तु शास्त्रत एवेति मीमांसासिद्धान्तेन हिंसनस्याङ्गभूतस्य विधेयत्वेन निषेध्यत्वायोगादित्यतिस्थवीयः शङ्क्यम् । कपिञ्जलानिति बहुवचनस्य परम्परया विधित्सितार्थगुणबोधकस्य त्रित्वसमानाधिकरणबहुत्वेनैव पर्यवसानसम्भवे "न हिंस्यादिति" सामान्यवाक्यस्यापि अनुपसर्जनीभूतार्थबोधकत्वेन तस्य त्र्यधिकपक्षिहिंसन-

(१) पाणिनीयमतानुसारेण अचरितप्रायश्चित्तानामिति वक्तव्येऽपि अचीर्णेति प्रयोगः स्वस्यर्षित्वाभिमानेनेति मन्यामहे ।

बाधकताया आवश्यकत्वात् । न च सामान्यविशेषयोर्बाध्यबाधकभावस्य लोकशास्त्रोभयसिद्धतया "न हिंस्यादिति" सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधो नायुक्त इति वाच्यम् । कपिञ्जलवाक्ये संख्याया गुणभूतत्वेन द्वित्वाधिकसंख्यात्वरूपबहुत्वस्य चतुष्ट्वादाविव त्रित्वेऽपि विद्यमानत्वेन द्वित्वाधिकसंख्यात्वरूपबहुत्वयोगित्रित्वचतुष्ट्वादियावत्संख्यावच्छिन्नपक्षिहिंसनस्यासम्भवेन पाक्षिकतया चतुष्ट्वाद्यवच्छिन्नस्येव त्रित्वावच्छिन्नस्यापि वाक्यार्थताया आवश्यकत्वेन तत एवास्याः श्रुतेरर्थपर्यवसानसम्भवेऽनुपस्पृष्टार्थस्य हिंसानिषेधवाक्यस्य त्र्यधिकपक्षिहिंसनानिष्टसाधनताबोधनेऽप्रतिरुद्धव्यापारत्वात् । वयं तु "कपिञ्जलानालभेतेति" श्रुतिर्न कपिञ्जलालम्भनबोधिका तथा सति हिंसाया रागतः प्राप्तत्वेन श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गात् । किन्तु रागतः परिप्राप्तमालम्भनमनूद्य तस्येष्टसाधनताबोधनतात्पर्यिका तत्र च सर्वेष्टसाधनताबोधनस्य बाधितत्वेन प्रकृतेष्टसाधनतैवार्थो-

वक्तव्यस्तनस्य प्रकृताश्वमेधयागात्मकेष्टसाधनताबोधनस्य श्रुत्यर्थतया हिंसाया इष्टसाधनत्वेन श्रुतितात्पर्याविषयत्वात् यागात्मकेष्टसाधनतायाश्च श्रुतितात्पर्यविषयीभूताया अणुनापि दोषत्वेनासंस्पर्शनान्नात्रोत्सर्गापवादभावोऽनयोर्वचसोः । त्रयाणामपि च कपिञ्जलानामालम्भनं भवत्येवानर्थहेतुः । दुरदृष्टजनकेऽपि च कपिञ्जलादौ रागजन्यैव प्रवृत्तिरिति हिंसया प्रत्यवयन्तोऽपि रागेण तत्र प्रवर्त्तन्ते, अधिकपक्षिहिंसा च यथा न यागाङ्गं तथा न्यरूपयमेव पूर्वम् । किं च निरुक्तरीत्या श्रुतेरश्वमेधात्मकेष्टसाधनतावगमकत्वे कपिञ्जलानां श्रुतितात्पर्याविषयत्वेन तत्संख्याया अत्यन्तदूरपराहतं तात्पर्यविषयत्वमिति तत्र त्रित्वत्वेन सङ्ख्यासङ्कोचस्योचितत्वेपि प्रकृते शास्त्रोदितप्रायश्चित्तानुष्ठानेन व्रात्यसंस्करणे कुतस्त्यः सङ्कोचोऽवलम्बनीयः । नहि प्रकृतेऽपि व्रात्यसंस्कारोऽन्यतः * प्राप्तो येन तत्र कपिञ्जल-

* यथा कपिञ्जलालम्भनं हिंसात्वेन रागतः प्राप्तम् ।

न्यायेन सङ्कोचो वक्तव्यः । अत्र तु व्रात्यतायाः संस्करणीयतायाः प्रायश्चित्तानुष्ठाने असंस्कार्यतायाश्च शास्त्रैकसमधिगम्यत्वेन न तत्र सङ्कोचकल्पनासम्भवः । शास्त्रोपस्थापितार्थस्य निषेधकल्पनायां तु षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्प एवावकल्पेतासमञ्जस इत्याचक्ष्महे ।

। वस्तुतस्तु सर्वोऽप्येष नागेशस्य भ्रान्ततानिबन्धनः प्रलाप एव यस्य प्रपितामहादीति सूत्रे आदिपदसत्त्वेन बहुवचनविरहात्कपिञ्जलन्यायावतारकथाया अप्यसम्भवात् । यद्यादिपदघटितस्थले कपिञ्जलन्यायनिपातस्तदा "सर्वादीनि सर्वनामानि" "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" इत्याद्यादिपदघटितशास्त्रेषु तदवतारे स्यादुन्मूलनं साधुप्रयोगसंप्रदायस्येति विज्ञाएव विजानन्तु । यदप्यति शिथिलम् अन्धनीतान्धन्यायेन स एव "किञ्चायं प्रायश्चित्तविधिर्येषां वंशे उपनयनं स्मर्यते तद्विषय एव न तु तदस्मरणे, 'यस्य प्रपितामहादीत्येतद्विषये पावमान्यादिभिः स्नानमि-

त्यर्थके प्रतीके प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरानित्येतदत्रापि द्रष्टव्यमिति हरदत्तोक्तेः, तदस्मरणे तद्गणनाया असम्भवात् इति प्रललाप तदेतदपि ऋष्यक्षरस्वारस्यानभिज्ञेभ्य एव रोचतां तथाहि प्रथमे पर्याये संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं तच्च मन्त्रविशेषानाम्नानादज्ञायत्रैव वा प्रकृतद्वितीयपर्यायोदितपावमान्यादिभिर्वा, द्वितीयपर्याये तु मन्त्राअप्युक्ताः कालविशेषश्चोक्तः "प्रतिपुरुषं संख्यायेत्यादिना। तृतीयपर्याये तु "तत उदकोपस्पर्शनंपावमान्यादिभिः" इत्यभिहितम्। एवं चेह तृतीयपर्याये द्वितीयपर्यायोक्तस्य प्रतिपुरुषं संख्यायेत्यस्य ऋषेर्योजनीयत्वे उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदित्येवोक्तं स्यान्न तु, 'उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः' इति पुनः पावमान्यादिमन्त्रोत्कीर्त्तनान्नेह पुरुषसंख्याविशेषपरिग्रह इत्यापस्तम्बसूत्रार्थविवेचनायां निरूपितमस्माभिरिति तत्रैव द्रष्टव्यम्। न चैवमृषिशैलीपरिकल्पने द्वितीयपर्याये, "तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति वर्ज-

येत्" इत्यभिधाय किमिति तृतीयपर्याये तेषां गमनं भोजनमित्याद्याम्रेडितं, त्वदुक्तरीत्या तु इहापि तेषां गमनादिकं वर्जयेदित्याद्येव किञ्चिदतिसंक्षिप्यैव वक्तव्यं स्यादिति वाच्यम्। द्वितीयपर्यायापेक्षया तृतीयपर्याये व्रात्यतापापस्य परिपाकदशापन्नत्वेन ताद्दशव्रात्यैर्न कश्चिदपि व्यवहारः करणीय इत्येतदर्थपोषणाय 'तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेदित्यवधारणार्थकचकारसंवलितताद्दशवाक्येन व्यवहारान्तरपरिग्राहकेतिपदघटितेन सर्वथापि सर्वेऽपि च व्यवहारा एतैर्वर्जनीया एवेत्यर्थस्य बुबोधयिषितत्वेन तस्य चार्थस्य विशिष्योक्ती त्तनं विना बोधयितुमशक्यतया तदाम्रेडनस्यावश्यकत्वात्। अत एव त्विहावधारणार्थकचकारोपादानमपि सफलम्। एतेन उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदित्युक्तौ प्राथमिकपर्यायीदितरीत्या उदकोपस्पर्शनभ्रमो मा भूदिति विशिष्य तदुपादानमावश्यकमित्यपि प्रत्युक्तम्। तृतीयपर्याये पापगरिम्णो न्याय-

तोपि प्रामतया कथमप्यादिमपर्यायोदितप्रायश्चित्तरीतेः शङ्कितुमप्यशक्यत्वेन तथा वक्तुमज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा। व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्। इति याज्ञवल्क्यस्मृतिविरोधान्न पञ्चमादीनामुपनयनं तथा हि सा स्मृतिरित्थं विज्ञानेश्वरेण व्याख्याता जातयो मूर्द्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिः। युगे जन्मनि सप्तमे पञ्चमे अपि शब्दात्षष्ठे बोद्धव्यः। व्यवस्थितश्चायं विकल्पो व्यवस्था चेत्थं ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी सा ब्राह्मणेनोढा दुहितरं काञ्चन जनयति सापि ब्राह्मणेनोढाऽन्यामित्यनेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमं ब्राह्मणं जनयति। एवं ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता षष्ठी साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी, षष्ठं ब्राह्मणं जनयति ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादिता मूर्द्धावसिक्ता साऽप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणं जनयति। एवं शूद्रायां क्षत्रियजोग्रा क्षत्रियेणोसिक्ता साऽप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणं जनयति एवं शूद्रायां क्षत्रियजोग्रा क्षत्रियेणो-

ढा क्रमेण पञ्चमं क्षत्रियं जनयति, वैश्यायां क्षत्रियजा महिष्या क्षत्रियोढा क्रमेण पञ्चमं क्षत्रियं जनयति तथा करणी वैश्योढा पञ्चमं वैश्यमित्याद्यूह्यम्" तदेतदपि कणस्पर्शं कटिचालनायितं, संस्कारविलोपजन्याधमतामुपयातानां संस्कारः कति पुरुषपर्यन्तमिति विचारे यौनसम्बन्धनिबन्धनोत्तमाधमभावव्यवस्थापकपञ्चमषष्ठादिपुरुषजन्यताया उपन्यासस्य विचेतस एवोचितत्वात्। न चायमर्थः प्रकृते, नाविकल्पः संस्कारणीयः किन्तु प्रकृतन्यायेन इहापि संस्कारसङ्कोचः कल्प्यत इति वाच्यम्। तथा सति संस्कारन्यायेन प्रकृतवचनोदितार्थस्यापि सङ्कोचकल्पने जनिजन्यदोषाणां पुरुषत्रयएव विशुद्धेः कल्पनीयत्वापत्तेः। तस्माद किंदेतत्

यदपि कर्मणां वृत्त्यर्थानां व्यत्यासे विपर्यासे सप्तमषष्ठपञ्चमेषु तत्साम्यं तथा हि ब्राह्मणो मुख्यवृत्या अजीवन् क्षात्रेण कर्मणा जीवेदित्यनुकल्पः, तेनाप्यजीवन् वैश्यवृत्या तयाप्यजीवन् शूद्रवृत्या, एवं क्षत्रियस्य वैश्यशूद्रवृत्ती

अनुकल्पः, वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरिति । एवं कर्मणां विपर्यये सति यद्यापद्विमोक्षेऽपि तां न त्यजति तदा सप्तमादिजन्मनि साम्यं यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तत्समानजातिः । तद्यथा ब्राह्मणः शूद्रवृत्त्या जीवन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तथैव वृत्त्या जीवन् पुत्रान्तरमित्येवं परम्परया सप्तमं शूद्रमेव जनयति वैश्यवृत्त्या जीवन् षष्ठे वैश्यं क्षत्रियवृत्त्या जीवन् पञ्चमे क्षत्रियं क्षत्रियोऽपि शूद्रवृत्त्या जीवन् षष्ठे शूद्रमेव वैश्यवृत्त्या जीवन् पञ्चमे वैश्यं वैश्यः शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन् पुत्रपरम्परया तदत्यागे पञ्चमे शूद्रं जनयति "पूर्ववच्चाधरोत्तरमिति वर्णसंकरा अनुलोमाः प्रतिलोमाश्च दर्शिताः। तत्र मूर्द्धावसिक्तयां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता। अम्बष्ठ्यां वैश्यशूद्राभ्यां निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधराः । प्रतिलोमजाइत्यर्थः। एवं मूर्द्धावसिक्तयम्बष्ठीनिषादीषु ब्राह्मणोत्पादिता माहिष्योग्र्योर्ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां क-

रण्यां ब्राह्मणाक्षत्रियवैश्यैरुत्पादितां उत्तरेऽनु-
लोमजा इत्यर्थः । वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहि-
ष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ वैश्यात्तु कः उपनयनाभावा-
देव ब्राह्मणादिवृत्तिहीनतया शूद्रवृत्त्यैव जीवनं
चेति दोषाधिक्यादस्य पञ्चमे शूद्रताप्राप्त्योपन-
यनप्राप्त्यभावात् । एवमेवंविधस्य क्षत्रियस्य तुर्ये
एव शूद्रता न हि शूद्रस्य प्रायश्चित्तसहस्रैरप्यु-
पनयनार्हता भवति न हि शूद्रवृत्या जीवति
ब्राह्मणस्यापि सप्तममपत्यमुपनयनार्हमिति क-
स्यापि संमतं कर्मणां व्यत्यये साम्यमित्यस्य त-
ज्जातितद्धर्मप्राप्त्यर्थातिदेशरूपत्वात् " साधु त-
त्त्वस्य पदवाक्यप्रमाणज्ञतासंदर्शनं साधु च वैदि-
कधर्मसंरक्षणं तथा हि किमयमुद्यमो भवतआ-
धुनिकेषु म्लेच्छभावेन व्यवहृतेषु भूतपूर्वक्षत्रियेषु
सांप्रतं यवनैर्दिल्लीन्द्रपैर्भूमिलोभेन त्याजितनि-
जधर्मेषु क्षत्रियत्वव्यवहारो मा भूदित्येतदर्थम् १
उत जयपुरजम्बूप्रभृतिदेशनिवासिषु क्षत्रियपद-
व्यवहृतेष्विति व्याहर तत्र प्रथमे ओमित्युत्तरं,

वृथा च तवैतावानायासः। शिष्टैस्तेषु क्षत्रियत्वप्रयोज्यदानेज्याध्ययनाद्यनाचारात् मन्वादिमहर्षिकाले यथा प्रत्यन्तवासिना निजधर्मच्युतानां क्षत्रियाणामपि दस्युपदेन व्यवहारस्तथा म्लेच्छतामुपयातेषु एतद्देशनिवासिष्वपि अस्माकमपि सर्वथा पुनरव्यवहार्यत्वमेवाभिमतमिति किमतिरिक्तम्। यदि क्षत्रियपदव्यवहृतेषु तदव्यवहारसाधनार्थमिज्याध्ययनादिवारणार्थं च भवतोऽयममुद्यमस्तदा तेषामाचारविलोपेन शूद्रादिवृत्त्युपजीवनेन चेति वक्तव्यं ततश्च भवतैव स्वोपष्टम्भकत्वेनाभिमतायां मिताक्षरायां किं व्यवस्थापितमिति निरीक्षस्व न हि तत्र अस्वया कृष्यादिवृत्योपजीवतामापन्नानां ब्राह्मणक्षत्रियाणां पातित्यं, परं भृशं वंशपरम्परया अनापद्यपि नीचवृत्तिमवलम्बमानानामिति स्फुटमुक्तं तदिह "कलिं सत्त्वहरं पुंसामिति श्रीमद्भागवतादिमहापुराणोपनिबद्धपरमापत्स्वरूपे कलौ परवृत्तिजुषाममीषां कथं जातिभ्रंशः शक्यसंभावनः। कलिधर्मनिरूपणे

दुर्लभ पु
पुस्तकों
आशा
उपयोगि

प्र-
र्ष-
स्त्र-
छ-
म-
क-
थ-
व-
द्रा-
तिव
ध्य-
या
त्र-
प-
त्त
ग-
लौ
सं-

लिलिपि सूचनार्थ

1. कुलपति
2. डा० ज्ञान

स्वामी
बी.ए.पी
स्वामी न
नई दिल्ल